6. इकोटोन, इकैड (पारिज), इकोटाइप (पारिप्रारूप) पारिस्थितिक जाति और कोर प्रभाव।

इकाई–2. पारिस्थितिक कारक–

1. मृदा– महत्व, मूल, गठन, संरचना, बनावट, परिच्छेदिका और घटकों
2. पानी– वितरण, अवक्षेपण के प्रकार (बारिश, कोहरा, बर्फ, ओले, ओस), जल चक्र
3. प्रकाश– पादप में विकिरण के प्रकार, विविधताएँ और अनुकूलन
4. तापमान– पादप प्रकार, विभिन्नता और अनुकूलन
5. अग्नि– पदाप में विभिन्नता और अनुकूलन
6. जैविक कारक।

इकाई–3. पारिस्थितिक तंत्र–

1. पारिस्थितिक तंत्र– संरचना और घटक, पोषक स्तर, खाद्य श्रृंखला और खाद्य जाल
2. ऊर्जा प्रवाह– अवधारणा और प्रतिरूप
3. उत्पादकता– परिभाषा और प्रकार
4. जैविक अन्तःसंबंध– स्वपोषी, विषमपोषी, सहजीवता, सहभोजिता, सहयोगिता, परजीविता, सामान्यीकरण, परभक्षण
5. पारिस्थितिक पिरामिड– परिभाषा अवधारणा और प्रकार
6. जैव–भू–रासायनिक चक्र– कार्बन, नाइट्रोजन, सल्फर और फास्फोरस

इकाई–4. पादप भूगोल–

1. महाद्वीपीय बहाव .
2. स्थानिकता
3. प्रमुख स्थलीय जीवोमः वन, ग्रासलैंड, मरुस्थल, ताई और टुंड्रा।
4. भारत के पादप भौगोलिक क्षेत्र
5. मध्य प्रदेश के वन प्रकार और वनस्पति
6. मध्य प्रदेश के घास के मैदान

इकाई–5. वानिकी–

1. परिभाषा, अतीत, वर्तमान वितरण एवं स्थिति
2. वनों के प्रकार एवं उनके महत्व
3. वी वनीकरण– करूणा और परिणांम।
4. वर्गीकरण विद्याएँ, सामाजिक वानिकी, कृषि वानिकी।
5. वन कारक : जैविक और अजैविक
6. वन प्रबंधन में सुदूर संवेदन (रिमोट सेंसिंग) की भूमिका। ❑

अनुशंसित मूल्यांकन विधियाँ

अनुशंसित सतत् मूल्यांकन विधियाँ (अधिकतम अंक : 100)

सतत् व्यापक मूल्यांकन (CCE) अंक : 30 विश्वविद्यालयीन परीक्षा (UE) अंक : 70

आंतरिक मूल्यांकनः सतत् व्यापक मूल्यांकन (CCE)	क्लास टेस्ट असाइनमेंट/प्रस्तुतिकरण (प्रजेंटेशन)	कुल अंकः 30
आंकलनः विश्वविद्यालयीन परीक्षा समयः 03.00 घंटे	अनुभाग (अ): अति लघुउत्तरीय प्रश्न अनुभाग (ब): चार लघु उत्तरीय प्रश्न अनुभाग (स): दो दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	कुल अंक 70

वनस्पति विज्ञान

(द्वितीय प्रश्न-पत्र)

इकाई-1

लघु एवं दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. पर्यावरण का क्या अर्थ है? इसके लक्षण क्या हैं?

अथवा

पर्यावरण के प्रकार समझाइये।

उत्तर– मानव का प्रत्येक पहलू पर्यावरण द्वारा प्रभावित होता है और समयानुकूल उसे प्रभावित भी करता है। प्रकृति में जो कुछ हमें परिलक्षित होता है– वायु, जल, मृदा, पादप, प्राणी, सभी सम्मिलित रूप से पर्यावरण की रचना करते हैं।

सोरोकिन के अनुसार, भौगोलिक पर्यावरण का तात्पर्य ऐसी दशाओं से है जिसका अस्तित्व मनुष्य के कार्यों से स्वतन्त्र है जो मानव रचित नहीं है और जो बिना मानव के अस्तित्व एवं कार्यों से प्रभाबित हुये स्वतः परिवर्तित होता है।

पारिभाषिक रूप में पर्यावरण शब्द जीवों की अनुक्रियाओं को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक (Physical) तथा जैविक (Biotic) परिस्थितियों का योग है। इसे जीवमण्डल (Biosphere) कहा जा सकता है, जो कि जलमण्डल, स्थलमण्डल और वायुमण्डल के जीवनयुक्त भागों का योग होता है।

पर्यावरण का अर्थ– पर्यावरण अंग्रेजी के 'Environment' शब्द से बना है। इसमें Environment = environ + ment. Environ का अर्थ घेरना तथा ment का अर्थ चतुर्दिश है। साधारण शब्दों में, ''पर्यावरण उस सबको कहते हैं जो किसी वस्तु को निकट से घेरे है तथा उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।''

''पर्यावरण में वे सब प्रभाव अन्तर्निहित होते हैं, जिनका अस्तित्व, यदि मनुष्य को पृथ्वी से पूर्ण रूप से हटा दिया जाय, तब भी बना रहता है।''

भूगोलवेत्ता डॉ. डेविस के अनुसार, ''मनुष्य के सम्बन्ध में भौगोलिक वातावरण से अभिप्राय भूमि या मानव के चारों ओर फैले उन सभी भौतिक स्वरूपों से है, जिसमें वह रहता है, जिनका उसकी आदतों और क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है।'' उदाहरण– भूमि का धरातल, मिट्टी की प्रकृति (ऊसर या उपजाऊ), महाद्वीपीय या महासागरीय जलवायु, वनस्पति, खनिज सम्पदा, पर्वत, मैदान, पृथ्वी की शक्तियाँ जो मानव–जीवन को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण कहलाता है।

एजी टॉसले के अनुसार, प्रभावकारी दशाओं का सम्पूर्ण योग जिसमें जीव रहता है, पर्यावरण कहलाता है। जर्मन वैज्ञानिक ए. फिटिंग के अनुसार, ''जीवन की परिस्थिति के समस्त तथ्य मिलकर वातावरण कहलाते हैं।'' अर्थात् वातावरण जीव के परिस्थिति कारकों का योग है। अमेरिकन मानवशास्त्री हर्सकोविट्स के अनुसार, ''वातावरण उन समस्त बाह्य दशाओं और प्रभावों का योग है जो प्राणी के जीवन और विकास पर प्रभाव डालते हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि पर्यावरण जीव की परिस्थिति कारकों का सम्पूर्ण योग है। इसी प्रकार की सभी प्राकृतिक परिस्थितियाँ जो मानव–जीवन को प्रभावित करती हैं, वातावरण के अन्तर्गत आती हैं। भौगोलिक पर्यावरण वे स्वतन्त्र अवस्थायें हैं जिनके निर्माण में मानव का कोई हाथ नहीं होता जो स्वतः बदलती हैं और मानव की

दशाओं एवं क्रियाओं को निर्धारित करती हैं। इस प्रकार पृथ्वी पर घटित होने वाली वे प्राकृतिक दशायें जिनका प्रभाव मानवीय क्रियाओं पर पड़ता हैं, प्राकृतिक पर्यावरण कहलाता है।

लक्षण– पर्यावरण के निम्नलिखित लक्षण या विशेषतायें हैं –

(1) जीवों के चारों ओर की वस्तुयें पर्यावरण बनाती हैं। विभिन्न स्थानों में जीवों और वनस्पति का पाया जाना क्षेत्र विशेष की पर्यावरणीय परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अतः प्राणियों के आस–पास पायी जाने वाली प्रत्येक चीज उनका पर्यावरण बनाती है।

(2) प्रत्येक क्षेत्र या स्थान जहाँ पादप या जन्तु उगते हैं या रहते हैं, उसे आवास–स्थान (Habitat) कहते हैं। इसका पर्यावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः पर्यावरण की अपेक्षा आवास–स्थल विशिष्टतम होता है।

(3) पर्यावरण में जीवों का परस्पर सहवास अनिवार्य लक्षण है। पर्यावरण तथा जीव एक–दूसरे से जुड़े हुये हैं। कोई भी जीव अलग (isolated) तथा एकल (solitary) जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। प्राणी भोजन के लिये पादपों पर निर्भर करते हैं। परागण के लिये पौधे कीटों पर निर्भर हैं। पादप सूर्य से ऊर्जा प्राप्त कर भोजन बनाते हैं।

(4) भौतिक व अजैविक घटक पर्यावरण के महत्वपूर्ण भाग हैं। जल, मिट्टी, मरुस्थल, पहाड़ तथा भौतिक प्रभाव (नमी, ताप, प्रकाश) तथा उस क्षेत्र के पादप और जन्तु मिलकर एक–दूसरे के जीवन को प्रभावित करते हैं।

(5) पर्यावरण एक खुला तन्त्र है जो सदैव बदलता रहता है इसलिये जैवमण्डल में सदैव परस्पर पदार्थों का विनिमय होता रहता है।

(6) जीव पर्यावरणीय परिवर्तनों के प्रति अनुकूलता उत्पन्न करते हैं। अपना अस्तित्व बनाने के लिये उनमें पर्यावरणीय परिस्थितियों के प्रति सामंजस्य बनाना आवश्यक होता है। ये आकारिकी, शारीरिक व्यवहार तथा सामुदायिक अनुकूलन प्रतिरूप एवं सम्बन्ध बनाते हैं।

पर्यावरण के प्रकार– यह दो प्रकार का होता है– भौतिक तथा सांस्कृतिक।

(1) भौतिक या प्राकृतिक (Physical or Natural Environment)– भौतिक पर्यावरण से तात्पर्य उन सम्पूर्ण शक्तियों (Forces), प्रक्रियाओं (Processes) और तत्वों (elements) से लिया जाता है, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव मानव पर पड़ता है।

(i) इन शक्तियों के अन्तर्गत सौर्य ताप, पृथ्वी की दैनिक एवं वार्षिक परिभ्रमण की गतियाँ, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, ज्वालामुखी क्रियायें, भूपटल की गति तथा जीवन–सम्बन्धी दृश्य सम्मिलित किये गये हैं। इन शक्तियों द्वारा पृथ्वी पर अनेक प्रकार की क्रियायें होती हैं, जिनमें वातावरण के तत्व उत्पन्न होते हैं और इन सबका प्रभाव मानव की क्रियाओं पर पड़ता है। प्रक्रियाओं में भूमि का अपक्षय, अवसादीकरण, ताप–विकिरण एवं चालन, ताप संवहन, वायु एवं जल में गतियों का पैदा होना, जीव की जातियों का जन्म, मरण और विकास आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इन प्रक्रियाओं द्वारा भौतिक वातावरण में अनेक क्रियायें उत्पन्न होती हैं जो मानव के क्रिया–कलापों पर अपना प्रभाव डालती हैं। इनके अन्तर्गत वे शक्तियाँ और प्रक्रियायें आती हैं जो धरातल पर भावात्मक और भौतिक तत्व पैदा करते हैं। क्षेत्रीय विस्तार और आकार, प्रादेशिक स्वरूप, प्राकृतिक स्थिति यह भावात्मक तथ्य है।

(ii) भौतिक तथ्यों में मौसम और जलवायु, स्थलाकृति, मिट्टियाँ, चट्टानें, खनिज, भूमिगत जल, महासागर और तटीय क्षेत्र आते हैं।

(iii) जैविक तत्व, जैसे– प्राकृतिक वनस्पति, जीव–जन्तु और अणु–जीव।

उपरोक्त सब मिलकर मनुष्य के भौतिक पर्यावरण का निर्माण करते हैं, ये जीवन पर प्रभाव डालते हैं। इन्हें प्राथमिक, प्राकृतिक या भौतिक पर्यावरण कहा जाता है। इन सबका अस्तित्व मनुष्यों के कार्यों से है।

(2) सांस्कृतिक वातावरण (Cultural Environment)– उपरोक्त प्राथमिक वातावरण में मनुष्य प्रविधि या तकनीकी की सहायता से संशोधन करता है और उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बना लेता है। उदाहरण के लिये,वह भूमि को जोतकर खेती करता है, जंगलों को साफ करता है, सड़कें, नहरें, रेल मार्ग आदि बनाता है, पर्वतों को काटकर सुरंगें आदि निकालता है। खनिज निकाल कर अस्त्र–शस्त्र तथा यन्त्र बनाता है। सामाजिक तथ्यों में तीन प्रतिरूप हैं– सामाजिक नियंत्रण प्रतिरूप, क्रिया–सम्बन्धी प्रतिरूप तथा निर्माण प्रतिरूप।

(3) जैविक पर्यावरण (Biotic Environment)– सारभौम में जैविक पर्यावरण बहुत बड़ा अवयव है, जो कि मानवों के इर्द–गिर्द रहता है। इसके अलावा मानव हेतु दूसरा मानव भी पर्यावरण का एक भाग है। जीव–जन्तु तथा वनस्पति इस घटक के मुख्य भाग हैं। सामान्यतः मनुष्य इस जैविक अवयवों के साथ अन्तर्सम्बन्ध तथा सामंजस्य बनाने की कोशिश करता है। जैविक पर्यावरण की समुचित जानकारी बीमारियों के निराकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रश्न–2. पर्यावरण से आप क्या समझते हैं? इसके कार्य–क्षेत्र, उद्देश्य, महत्व तथा सीमाओं का वर्णन कीजिये।

उत्तर– पर्यावरण (Environment)– पौधे (Plants), जन्तु (Animals) एवं सूक्ष्मजीवों (Microbes) की उत्तरजीविता के लिये ऊर्जा एवं पदार्थों की आवश्यकता होती है, जिसे वे अपने वातावरण से ही प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पौधे, जीव–जन्तु एवं सूक्ष्म जीव अपने वातावरण के साथ मिलकर सम्मिलित रूप से एक तन्त्र या इकाई (Unit) बनाते हैं, जिसे पारिस्थितिक तन्त्र (Ecosystems) कहते हैं। प्रत्येक प्रकार के पारिस्थितिक तन्त्र में उपस्थित जैविक एवं अजैविक पदार्थ अन्तःक्रिया करते हैं। अतः जीवों (Organisms) एवं उनके भौतिक वातावरण (Physical environment) का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये जीव विज्ञान के अन्तर्गत एक नयी शाखा बनायी गयी, जिसे पारिस्थितिक विज्ञान (Ecology) कहते हैं।

पर्यावरण और मनुष्य का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य जब से इस पृथ्वी पर आया है, उसने पर्यावरण के साथ अपने आपको जोड़े रखा है। वन, पर्वत, नदियों, महासागर, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, वायु, जल इत्यादि का मनुष्य ने शुरू से ही प्रयोग किया है। लकड़ी, भोजन, वस्त्र, दवायें इत्यादि प्राप्त करने हेतु मनुष्य ने प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग किया है तथा वर्तमान में भी कर रहा है। समय के साथ औद्योगिक विकास एवं जनसंख्या वृद्धि ने पर्यावरण को प्रभावित किया है। मनुष्य आज अपनी जरूरतों के अनुरूप पर्यावरण को बदलने के लिये सक्रिय कारक बन गया है। वनों का विनाश, वायु तथा जलीय प्रदूषण एवं मृदा में कीटनाशक

दवाओं के बढ़ते हुये प्रयोग ने वातावरण में कई परिवर्तन किये हैं। अकाल, भूकम्प, महामारी, सूखा, अतिवृष्टि तरह-तरह के रोग मानव सभ्यता के विनाश का कारण बने हुये हैं।

आज मनुष्य के कारण ही पर्यावरण प्रदूषित हो गया है। प्रदूषण सिर्फ वायु, जल, भूमि आदि को ही प्रभावित नहीं करता है वरन् जीवमंडल के जीवों पर भी प्रभाव डालता है। पर्यावरण में बड़ी मात्रा में मिलने वाले हानिकारक पदार्थ पर्यावरण परितन्त्र को प्रदूषित कर रहे हैं। इसके कारण पर्यावरण दिनों-दिन जहरीला तथा हानिप्रद होता जा रहा है।

पर्यावरण का महत्व– सभी जीव पर्यावरण के प्रति सचेत रहते है। अपने जीवन-चक्र को चलाने के लिये पर्यावरण से समायोजन बनाये रखते हैं। पर्यावरण के परिवर्तन के साथ उनके समायोजन की क्रियाविधि बदलती रहती है। पर्यावरण के दोनों तत्व जैव एवं अजैव एक-दूसरे में इस प्रकार मिश्रित हैं कि उनको अलग करके देखना कठिन हो जाता है। अजैव तत्वों में जलवायु प्रमुख है। उसी प्रकार जैविक तत्वों में मनुष्य प्रमुख है। जलवायु व मनुष्य दोनों तत्वों की भूमिका जीवमंडल की व्यवस्था व क्रियाशीलता में सर्वोच्च है। मानव द्वारा लगातार पर्यावरण को हानि पहुँचाना मानव अस्तित्व के लिये बहुत गम्भीर चुनौती है। वायुमण्डल का विश्वव्यापी अवनयन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। वातावरण में CO_2 की वृद्धि के कारण पृथ्वी के वायुमंडल का तापमान सामान्य से 0.05 डिग्री से अधिक हो गया है जिसमें लगातार वृद्धि की संभावना है। साथ ही O_3 (ओजोन परत) का विनाश भी शुरू हो गया है, जो सूर्य की पराबैंगनी किरणों को छानता है और हमें व वनस्पति को अत्यधिक गर्मी से बचाता है।

पर्यावरण का सबसे महत्वपूर्ण अजैविक तत्व जलवायु है, जिसके अन्तर्गत तापमान, वर्षा, नमी व वायु को शामिल करते हैं। तापमान का महत्व मनुष्य व प्राणी जगत के लिये अत्यधिक है। तापमान की कमी या वृद्धि प्रत्यक्ष रूप से इन्हें प्रभावित करती है। कम तापमान जीवों के लिये हानिकारक होता है। तापमान जीवन के लिये आवश्यक है चाहे वह धरातल पर वनस्पति, पशु-पक्षी या अन्य जीवाणु हो या समुद्री जीवन हो। वर्षा का भी मानव-जीवन व वनस्पति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। मानव-जीवन के लिये वर्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है इस संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि 'जल ही जीवन है।' पर्यावरण का प्रमुख तत्व वर्षा हमारे लिये बहुत महत्वपूर्ण है। वर्षा से पेयजल प्राप्त होता है, वनस्पति को भोजन, जलवायु में नमी, कृषि-उपज के लिये, उद्योगों के लिये वर्षा-जल उपलब्ध कराती है। वनस्पति व मानव-जीवन के लिये वर्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

पर्यावरण के द्वारा ही हमें वायु प्राप्त होती है। एक बार व्यक्ति बिना पानी के रह सकता है, किन्तु बिना हवा के व्यक्ति के जीवन की कल्पना ही संभव नहीं है। वायु वर्षा कराने में, वातावरण को नम रखने में सहायक होती है। वर्षा के जल-चक्र को चलाने में वायु महत्वपूर्ण होती है। पर्यावरण के द्वारा ही हमें जल प्राप्त होता है, मानव-जीवन, वनस्पति, कृषि उद्योग के लिये जल महत्वपूर्ण है। जल के बिना मनुष्य का आर्थिक व सांस्कृतिक विकास संभव नहीं है।

कार्य-क्षेत्र– पारिस्थितिक वैज्ञानिकों ने अपना ध्यान प्राथमिक रूप से जीवों एवं उनके वातावरण के अन्तर्सम्बन्धों (Inter-relationship) की ओर आकर्षित किया है। अतः पारिस्थितिकी का महत्व अधिक विस्तृत है, क्योंकि प्रकृति में पौधों एवं जन्तुओं की संख्या बहुत अधिक है। अतः पारिस्थितिकी का मुख्य कार्य ऐसे सामान्य सिद्धान्तों को प्रदर्शित करना है, जिस पर प्राकृतिक समुदाय (Natural Community) एवं उसके संघटक अवयवों की क्रियाशीलता निर्भर होती है। इसके आधार पर विशिष्ट पौधों या जन्तुओं की क्रियाशीलता को व्यक्त करने के लिये उन्हीं परिस्थितियों में इन सामान्य नियमों का उपयोग किया जाता है।

इसकी सहायता से किसी क्षेत्र-विशेष में उपस्थित बायोटा (Biota) अर्थात् पादपजात (Flora) एवं जन्तुजात (Fauna) की पहचान एवं गिनती की जाती है। इस विज्ञान की सहायता से विशिष्ट वातावरण, जैसे- वन, मृदा, समुद्र एवं प्राकृतिक समुदायों के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन सम्भव होता है। कृषि (Agriculture), जीव, वैज्ञानिक सर्वे, कीट नियंत्रण (Insect Control), वानिकी (Forestry) एवं मत्स्य विज्ञान (Fishery) आदि क्षेत्रों में पारिस्थितिकी (Ecology) व्यावहारिक रूप से उपयोगी सिद्ध हुयी है। मृदा-संरक्षण, वन-संरक्षण, वन्य-जीवन संरक्षण आदि कार्यों में यह विज्ञान अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रदूषण के निराकरण एवं उससे बचाव के लिये भी हम पूर्ण रूप से पारिस्थितिकी के ज्ञान पर ही निर्भर हैं।

पर्यावरण की सीमायें एवं उद्देश्य– पर्यावरण का अध्ययन करने पर ही मानवीय अनुक्रियाओं की विविधता एवं क्षेत्रीयता को समझा जाता है। पर्यावरण में उसके कारकों, स्थल, जल, वायु और जीवमंडल का अध्ययन किया जाता है। इन तत्वों का मिश्रित प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है। मानव का पर्यावरण के तत्वों पर बढ़ता प्रभाव पर्यावरण के गुणात्मक ह्रास का कारण बनता जा रहा है। पर्यावरण के गुणात्मक ह्रास के भयंकर परिणाम मानव सहित समस्त जीवों को उठाने होंगे। इस स्थिति से बचने के लिये पर्यावरण का संरक्षण व विकास आवश्यक हो गया है। पर्यावरण का संरक्षण व विकास बहु-उद्देशीय होता जा रहा है, यही कारण है कि विभिन्न वर्गों के वैज्ञानिक इसमें जुटे हुये हैं। भौगोलिक अध्ययन में इसकी महत्ता आदिकाल से बनी हुयी है। आज पर्यावरण के अध्ययन के दो आधार हैं–

1. पर्यावरण के तत्वों और जीवों का अन्तर्सम्बन्ध एवं सम्बन्धित समस्यायें।
2. पर्यावरण की अवमानना से उत्पन्न समस्या तथा उनका समाधान।

पर्यावरण के प्रभावों को लेकर प्रकृतिवाद की धारणा भूगोल में वैचारिक मंथन का आधार है। पर्यावरण का ह्रास इस सीमा तक हो रहा है कि आज मानव सहित जीवों के समक्ष संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसका सबसे प्रमुख कारण मनुष्य ही है। मानव समाज द्वारा पर्यावरण से की जाने वाली छेड़छाड़ के कारण प्रलय की स्थिति बनती जा रही है। वायुमंडल में लगातार अवांछनीय गैसों के प्रवेश के कारण ओजोन गैस की परत में क्षय होता जा रहा है, यदि यही होता रहा तो ओजोन परत सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणों को रोकने में असमर्थ रहेगी और यह किरणें पृथ्वी के तापमान को अधिक बढ़ा देंगी, जिससे मौसम व जलवायु में विपरीत परिवर्तन होंगे जो मानव सभ्यता व उसके विकास में बाधक होंगे, अतः पर्यावरण का अध्ययन एक सामयिक और अनिवार्य आवश्यकता है, पर्यावरणीय भूगोल के अजैविक और जैविक तत्वों का मूल्यांकन प्रकृति के नियमानुसार किया जाता है। यही कारण है कि विश्व की विविध मानव प्रजातियों, विविध आर्थिक कार्यों और विविध आवश्यकताओं का मूल्यांकन पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। आज विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक एवं सामाजिक विशिष्टता के लिये पर्यावरण के अजैव तत्व विशेषकर जलवायु, मिट्टी, खनिज पदार्थ व जल विशेष उत्तरदायी हैं।

पर्यावरण की आवश्यकता– मानव एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसका परिवार तथा समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पर्यावरण का अर्थ है- वातावरण। जिससे सम्पूर्ण प्रकृति (नदियाँ, जलाशय, वन, उपवन, वाटिका, झरने, पर्वत शृंखलायें, चट्टान, खनिज, पेड़-पौधे, वायु तथा जल का संयोग) आती हैं। मनुष्य पर्यावरण में ही जी रहा है, इसलिये शुद्ध पर्यावरण की अत्यन्त जरूरत है। प्रकृति का क्षेत्र विस्तृत है, जो कि पर्यावरण के साथ जुड़ा हुआ है। वह प्राकृतिक घटनाओं की जानकारी एवं उसके कारण ढूँढ़ता है। प्राकृतिक वन-

सम्पदा प्राथमिक स्तर पर एक मनोहर रूप पेश करती है। खेत, बगीचे, झरने, नदी, वाटिकायें तथा विभिन्न जीव-जन्तु आदि सभी इस पर्यावरण को सुन्दर और स्वच्छ बनाते हैं।

बालक प्रकृति की गोद में जाकर प्राकृतिक दृश्यों का बोध करता है तथा निरीक्षण कर उन्हें समझ लेता है। इसी कारण ही आजकल प्राथमिक स्तर पर यूनिसेफ ने एक योजना पर्यावरणीय शिक्षा विद्यालयों में शुरू कर दी है। इसके द्वारा छात्रों को शिक्षण दिया जाता है, वह अपव्ययी नहीं है।

प्रश्न–3. पारिस्थितिक कारक क्या हैं? इसके अन्तर्गत मृदीय कारक की विवेचना कीजिये।

[भोपाल 2007,12,15 जबलपुर 2018]

अथवा

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये– [जीवाजी 2005,14]

(i) जैवीय कारक **(ii) मृदीय कारक**

उत्तर– पारिस्थितिक कारक (Ecological factors)– बहुत से कारकों के मिलने से वातावरण बनता है जिसके अनुसार जीव अपने को अनुकूलित (Adopt) कर लेते हैं। वातावरण में अनेक प्रकार के भौतिक, रासायनिक तथा जैविक कारकों का पौधों पर प्रभाव पड़ता है और यही पारिस्थितिक कारक (Ecological factors) कहलाते हैं। इन कारकों को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. जलवायु सम्बन्धी कारक (Climatic factors)– इसके अन्तर्गत निम्न कारक आते हैं– (i) प्रकाश (ii) ताप (iii) आर्द्रता (iv) वायु

2. भौगोलिक कारक (Geographical factors)– इसके अन्तर्गत निम्न कारक आते हैं– (i) ऊँचाई (Altitude) (ii) ढलान (Slope)

3. मृदीय कारक (Edaphic factors)– इसके अन्तर्गत निम्न कारक आते हैं–

(i) मिट्टी का निर्माण (ii) मृदा परिच्छेदिका
(iii) मृदा वायु (iv) मृदा ताप
(v) मृदा के भौतिक गुण (vi) मृदा के रासायनिक गुण

4. जैविक कारक (Biotic factors)– इसके अन्तर्गत निम्न कारकों का अध्ययन किया जाता है–

(i) सूक्ष्म जीव (ii) चरने वाले पशु
(iii) पक्षी एवं कीट (iv) मानव क्रियायें

मृदीय कारक (Edaphic factors)– मृदा एक मुख्य पारिस्थितिक कारक है क्योंकि इस प्रकार पौधे पोषक तत्व जल की पूर्ति तथा सलांगन (Anchorage) के लिये निर्भर होते हैं। पौधा बनने की प्रक्रिया में बीजों का अकुंरण भी इसी में होता है।

मृदा के आधार पर पौधों को निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) अम्लोद्भिद् (Oxalophytes)– अम्लीय मृदा पर पाये जाने वाले।
(ii) लवण मृदोद्भिद (Halophytes)– लवणीय (Saline) मृदा पर उगने वाले।
(iii) बालुकोद्भिद (Psammophytes)– बालू पर उत्पन्न होने वाला।
(iv) शैलोद्भिद् (Lithophytes)– चट्टानों की सतह पर पाये जाने वाले।
(v) दरारोद्भिद् (Chasmophytes)– चट्टानों की दरारों में उत्पन्न होने वाले।

पृथ्वी की चट्टानों के अपक्षय (Weathering) के फलस्वरूप बनने वाली उसकी ऊपरी परत (Surface layer) को मृदा कहते हैं।

मृदा निम्न पाँच घटकों से मिलकर बनी होती है। यह घटक हैं–

खनिज पदार्थ (Mineral matter), मृदा वायु (Soil air), मृदा जल (Soil water), कार्बनिक पदार्थ (Organic matters), ह्यूमस (Humus) और मृदा जीव (Soil organisms)

प्रश्न– 4. पर्यावरण अध्ययन की बहुविषयक प्रकृति को समझाइये।

अथवा

पर्यावरण अध्ययन की बहुविषयक प्रकृति को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– पर्यावरण अध्ययन की बहुविषयक प्रकृति (Multidisciplinary nature of Environmental studies)– पर्यावरण अध्ययन का विषय-क्षेत्र बहुत व्यापक है। अध्ययन के उद्देश्य मे दिनों-दिन हुये विस्तार ने पर्यावरण अध्ययन को बहुविषयक या बहु-अनुशासनिक कर दिया है। आज पर्यावरण का अध्यन्न जीव विज्ञान या भूगोल विषय की एक विशिष्ट शाखा मात्र न रहकर एक दृष्टिकोण बन गया है। इसका अध्ययन विज्ञान, वाणिज्य, सामाजिक विज्ञान, प्रबन्ध आदि अनेक विषयों में व्यापक स्तर पर किया जाने लगा है। आज पर्यावरण-संरक्षण में जीव विज्ञानी, समाजशास्त्री, भूगोलवेत्ता, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ विधिवेत्ता, अभियांत्रिक आदि विशेषज्ञों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। यह एक ऐसा विषय है जिसकी सीमायें अनेक विषयों या अनुशासनों को स्पर्श करती हैं अथवा अतिव्यापन करती हैं। भिन्न-भिन्न विषयों जैसे प्राणीशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, पारिस्थितिकी, समाजशास्त्र आदि में किया जाने वाला पर्यावरण का अध्ययन समग्र न होकर कुछ पक्षों तक सीमित होता है लेकिन प्रत्येक विषय पर्यावरण के विशेष पक्ष का अध्ययन कर विभिन्न विषयों या क्षेत्रों के विशेषज्ञों के ज्ञान का उपयोग करना आवश्यक है।

इसका अध्ययन विषय की प्रमुख विशेषता यह है कि यह अन्य कई प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों में समाया हुआ है। अतः यह अनेक विषयों या उपविषयों को परस्पर जोड़ता है। इसका अध्ययन क्रमबद्ध उपागम से किया जाये या प्रादेशिक उपागम से, अध्ययन के दौरान एक उपागम दूसरे उपागम में स्वतः समविष्ट हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह एक समाकलन विज्ञान (Integrating science) है।

पर्यावरण एवं सामाजिक विज्ञान (Environment & Social Science)– भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, लोक प्रशासन आदि सामाजिक विज्ञानों में पर्यावरण के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है। जनसंख्या वृद्धि, मानव के आर्थिक क्रियाकलाप, अर्थव्यवस्था का स्वरूप, नगरीकरण, औद्योगीकरण, सामाजिक मूल्य, समाज की पर्यावरणीय अभिरूचि, जागरूकता, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, समझौते इत्यादि पक्षों का अध्ययन पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। इन पक्षों का उभयनिष्ट अध्ययन सामाजिक विज्ञानों व पर्यावरण अध्ययन में निकट सम्बन्ध दर्शाता है।

भूगोल विषय की प्रकृति पर्यावरण अध्ययन के समान ही अन्तरानुशासनिक है। इसमें पर्यावरण का समग्र रूप से अध्ययन किया जाता है। भूगोल में मानव-पर्यावरण सम्बन्धों के अध्ययन की समृद्ध विरासत रही है। जैव भूगोल तथा पर्यावरण भूगोल जैसी शाखाओं में जीव-मण्डल के समस्त घटकों का समाकलित अध्ययन किया जाता है, जबकि अन्य विषय किसी एक पक्ष का ही अध्ययन करते हैं। भूगोलवेत्ता द्वारा प्रस्तुत भौतिक पर्यावरण व मानव के जटिल सम्बन्धों का विश्लेषण, स्थानिक वितरण, प्रादेशीकरण व मानचित्रीकरण पर्यावरण संरक्षण में अत्यन्त उपयोगी होता है।

पर्यावरण एवं जीव विज्ञान (Environment & Bioscience)– वनस्पति एवं जीव-जन्तु पर्यावरण के जैविक संघटकों में आते हैं। इनका उद्भव, विकास, विविध प्रजातियाँ,

वितरण, स्थानान्तरण, जैव–विविधता, जीवोम आदि पक्षों का अध्ययन विशेष रूप से जीव विज्ञान (वनस्पति शास्त्र तथा प्राणीशास्त्र) में विस्तार से किया जाता है। इन पक्षों का अध्ययन पर्यावरण के सन्दर्भ में भी किया जाता है। अतः पर्यावरण अध्ययन में जीव–वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विशेष महत्व है।

जीव व उसके वातावरण या पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन मुख्य रूप से पारिस्थितिकी विज्ञान में किया जाता है।

पर्यावरण एवं भौतिक विज्ञान– पर्यावरण के भौतिक या अजैविक घटकों में जल, स्थल, मृदा, वायु, ऊर्जा आदि सम्मिलित हैं। ये भौतिक घटक समस्त जीवों के जीवन का आधार है। इसके प्राकृतिक स्वरूप में होने वाले थोड़े से परिवर्तन भी समस्त जीव–जगत को प्रभावित करते हैं। अतः पर्यावरण अध्ययन में इनका विशेष महत्व है। भौतिक घटकों की संरचना, संघटन कार्य–प्रणाली तथा विविध पक्षों का विशद् अध्ययन मुख्य रूप से भूविज्ञान, जलवायु विज्ञान, समुद्र विज्ञान, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि भौतिक विज्ञानों में किया जाता है। इस प्रकार से भौतिक विज्ञान पर्यावरण अध्ययन से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।

पर्यावरण एवं प्रबन्धन (Environment & Management)– पर्यावरण प्रबन्धन पर्यावरण अध्ययन का महत्वपूर्ण पक्ष है। मनुष्य की तत्कालिक आवश्यकताओं के साथ भावी पीढ़ी की जरूरतों का आकलन करते हुये संसाधनों के दोहन की व्यूह–रचना बनाना, पर्यावरण की गुणवत्ता का पुनर्स्थापन, आर्थिक विकास एवं पारिस्थितिक सन्तुलन आदि लक्ष्य दीर्घकालिक योजना व कुशल प्रबन्धन से ही अर्जित किये जा सकते हैं। नीति–निर्माण, क्रियान्वयन, विभिन्न स्तरों पर समन्वय जैसे पक्षों की पर्यावरण संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

पर्यावरण एवं विधि (Environment & Law)– पर्यावरण की साक्षी विरासत को बचाने तथा पर्यावरण संकट से उबरने के अन्य उपाय अधिक कारगर नहीं होने पर अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर बनाये गये कानूनों ने पर्यावरण को संरक्षण प्रदान किया। पर्यावरण विधि विधिशास्त्र की एक प्रमुख शाखा है। पर्यावरण संरक्षण तथा प्रदूषण नियंत्रण हेतु बनाये गये विभिन्न कानूनों व अधिनियमों का अध्ययन पर्यावरण विषय को विधि से सम्बद्ध करता है।

प्रश्न–5. मानव–जीवन में पर्यावरण का क्या महत्व है? विवेचना कीजिये।

अथवा

मानव–जीवन में पर्यावरण की उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

उत्तर– पर्यावरण ने मानव–जीवन को आधार प्रदान किया है। पर्यावरण के तत्वों के कारण ही पृथ्वी पर जीवन सम्भव हुआ है। मानव–जीवन की सभी मूलभूत आवश्यकतायें भी पर्यावरण के तत्वों द्वारा पूरी होती हैं। इसलिये पर्यावरण का मानव–जीवन से गहरा सम्बन्ध है। पर्यावरण के तत्वों का मानव–जीवन के साथ सम्बन्ध को अग्रलिखित प्रकार से समझा जा सकता है–

(1) **प्राकृतिक वनस्पति एवं मानव–जीवन–** जलवायु तथा धरातलीय संरचना के जुड़ने से प्राकृतिक वनस्पति उत्पन्न होती है। इस प्राकृतिक वनस्पति से मनुष्य को अनेक वस्तुयें– इमारती लकड़ी, बिरोजा, गोंद, औषधि, पशुओं के लिये चारागाह तथा कागज एवं दियासलाई आदि उद्योगों के लिये कच्चा माल मिलता है। प्राकृतिक वनस्पति द्वारा जलवायु भी प्रभाहित होती है तथा वायुमंण्डल में जलवाष्प की मात्रा में वृद्धि होने के कारण वर्षा में वृद्धि होती है, जोकि कृषि उत्पादन को प्रभावित करती है।

(2) **जल संसाधन एवं मानवीय–जीवन–** जल–संसाधन मानव के लिये अत्यधिक उपयोगी है। इन जल संसाधनों में नदियों का महत्वपूर्ण स्थान है। नदियाँ मानव–जीवन का स्रोत हैं तथा मानव के लिये उपजाऊ मैदानों को बनाती हैं, जिससे मानव को खाद्यान्नों की प्राप्ति होती है। इनसे मानव को सिंचाई, जल–विद्युत शक्ति, पेयजल एवं परिवहन आदि की सुविधायें मिलती हैं।

(3) **जलवायु एवं मानव–जीवन–** जलवायु पर्यावरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। मानव–जीवन को प्रभावित करने वाले और दिशा निर्धारित करने वाले कारकों में जलवायु सबसे शक्तिशाली है। मानव वर्गों के भोजन, वस्त्र, आवास की आकृति तथा कृषि फसलों को उन क्षेत्रों की जलवायु ही निर्धारित करती है। जलवायु द्वारा मानव–जीवन निम्नलिखित प्रकार से प्रभावित होता है–

(i) मानव–जीवन की खाद्यान्न आपूर्ति और पेय पदार्थ।
(ii) आवास, उनकी निर्माण सामग्री तथा आकृति।
(iii) वस्त्र एवं उनके प्रकार।
(iv) मानवीय व्यवसाय– जैसे– कृषि, पशुपालन, वन उद्योग आदि।
(v) मानवीय संस्कृति।
(vi) मानव का स्वास्थ्य और किसी प्रदेश में रह सकने की क्षमता तथा मानवीय भौतिक शक्ति।

(4) **खनिज पदार्थ एवं मानव–जीवन–** धरती के अन्दर कई खनिज लौह–अयस्क, कोयला, मैंगनीज, अभ्रक, ताँबा, सोना, चाँदी, खनिज तेल आदि मिलते हैं, जो मानव–जीवन के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(5) **स्थल तथा मानव–जीवन–**

(i) पर्वत श्रेणियाँ एवं मानवीय जीवन–

(अ) पर्वत–वन सम्पदा के भण्डार हैं, जिनसे अनेक जड़ी–बूटियाँ प्राप्त होती हैं।
(ब) इनसे पर्याप्त मात्रा में खनिज पदार्थ, बहुमूल्य लकड़ी प्राप्त होती है।
(स) अधिकांश नदियों के उद्गम स्रोत पर्वत श्रेणियाँ ही होती हैं।
(द) इनसे कीमती पत्थर भी प्राप्त होते हैं।
(इ) पर्वत श्रेणियाँ जलवाष्पयुक्त पवनों के मार्ग में बाधा बनकर वर्षा कराने में सहायक होती हैं तथा सीमाओं पर सुरक्षा का कार्य करती हैं।

(ii) मैदान एवं मानवीय जीवन–

(अ) नदियों द्वारा लाई गयी जलोढ़ मिट्टी से बने मैदान हमेशा मानव को आश्रय प्रदान करते रहे हैं।
(ब) ये मैदान कृषि, व्यापार, उद्योग, परिवहन की प्रगति के आधार होते हैं।
(स) इन पर किसी भी देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है।

(iii) पठार एवं मानवीय जीवन–

(अ) पठार खनिज पदार्थों के अक्षुण्ण भण्डार होते हैं।
(ब) प्राकृतिक वन–सम्पदा एवं चारागाहों में धनी होते हैं।
(स) पठारी भूमि की सभी वस्तुयें मानवीय–जीवन में सहायक होती हैं।

प्रश्न–6. जनसंख्या पारिस्थितिकी का वर्णन कीजिये। जनसंख्या की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

अथवा

जीवसंख्या की परिभाषा देते हुये उसके विभिन्न लक्षणों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– समष्टि या पॉपुलेशन सामान्य रूप से एक विशेष क्षेत्र में पाये जाने वाले जीवों का एक समूह है, जो दिये हुये एक समय में पाया जाता है, किन्तु इकोलॉजिकल दृष्टि से पॉपुलेशन एक विशेष स्थान में स्थित एक ही जाति या घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित जातियों के जीवों का समूह है, जिसमें पेड़-पौधे व जन्तु दोनों सम्मिलित होते हैं। पॉपुलेशन दो प्रकार की हो सकती है–

(i) एक जातीय (Monospecific)– इस पॉपुलेशन में एक ही जाति के जीव होते हैं।

(ii) बहु जातीय (Polyspecific)– इस पॉपुलेशन में कई जाति (Species) के जीव होते हैं। पॉपुलेशन निम्न गुण प्रदर्शित करती है–

(A) समष्टि घनत्व (Population density)– किसी निश्चित समय में प्रति इकाई क्षेत्रफल अथवा आयतन में रहने वाले जीवों की संख्या को समष्टि घनत्व कहते हैं। जैसे– प्रति वर्ग किलोमीटर में हिरणों की संख्या, प्रति एकड़ क्षेत्रफल में वृक्षों की संख्या। समष्टि घनत्व व्यक्त करने की निम्न दो विधियाँ हैं–

(i) प्राकृतिक घनत्व (Crude density)– जीवों की कुल संख्या अथवा जीव समूह प्रति इकाई वर्ग क्षेत्रफल या आयतन को कहते हैं। जैसे– एक वर्ग मील क्षेत्रफल में गिलहरियों की संख्या।

(ii) पारिस्थितिक घनत्व (Ecological density)– जीवों की कुल संख्या अथवा जीव समूह प्रति इकाई वर्गफल या आयतन के उस क्षेत्र की पॉपुलेशन डेनसिटी को निम्न डेनसिटी फार्मूले द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$D = \frac{n/a}{t}$$

जहाँ D = घनत्व, n= जीवों की संख्या, a = क्षेत्रफल, t= समय।

(B) समष्टि वृद्धि (Population Growth)– किसी निश्चित क्षेत्र के जीवों की कुल संख्या में होने वाली वृद्धि को पॉपुलेशन ग्रोथ कहते हैं। पॉपुलेशन ग्रोथ मुख्य रूप से दो बातों पर निर्भर करता है–

(a) जन्मदर (Birth rate or Natality)– एक यूनिट समय में किसी पॉपुलेशन द्वारा उत्पन्न नये जीवों की औसत संख्या को जन्मदर कहते हैं। यह दो तरह की होती हैं

(1) मैक्सिमम नेटेलिटी– इसे मैक्सिमम बर्थरेट भी कहते हैं। उपयुक्त फिजियोलॉजिकल परिस्थितियों में एक इकाई समय (Unit time) में पैदा होने वाले जीवों की अधिकतम जन्म दर मैक्सिमम नेटेलिटी कहलाती है। यह सैक्चुअल रूप से परिपक्व नर तथा मादा जीव पॉपुलेशन में मादा जीवों का समानुपात तथा एक इकाई समय (Unit time) में प्रत्येक मादा द्वारा उत्पन्न अण्डों द्वारा निर्धारित होती है। किसी भी पॉपुलेशन की अधिकतम जन्म दर सदैव स्थिर रहती है।

(2) इकोलॉजिकल अथवा वास्तविक जन्म दर– किसी एक निश्चित समय में पॉपुलेशन में नये जीवों की वास्तविक संख्या को इकोलॉजिकल अथवा वास्तविक जन्मदर कहते हैं। यह अधिकतम जन्मदर से कम होती है क्योंकि किसी भी पॉपुलेशन की समस्त मादायें समान रूप से प्रजनन की क्षमता नहीं रखतीं।

(b) मृत्यु दर (Death rate or Mortality)– प्रत्येक टाइम पीरियड में, पॉपुलेशन में मरने वाले जीवों की संख्या को मृत्युदर कहते हैं। यह पॉपुलेशन में जीव संख्या वृद्धि को विपरीत दिशा में प्रभावित करती है। भिन्न-भिन्न जातियों की मृत्युदर भिन्न-भिन्न होती है। किसी पॉपुलेशन की सामान्य परिस्थितियों में न्यूनतम मृत्युदर, मृत्युदर विभव (Potential mortality) कहलाती है तथा वास्तविक मृत्युदर को प्राप्त मृत्युदर (Realized mortality) कहते हैं।

किसी भी पॉपुलेशन की मृत्युदर सदैव स्थिर रहती है, परन्तु वास्तविक मृत्युदर में परिस्थिति, कारणों एवं घनत्व के आधार पर भिन्नता होती है। मृत्युदर को निम्न सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जाता है–

$$D = \frac{Nn}{t}$$

जहाँ– D= मृत्यु दर, T = अवधिकाल, Nn= पॉपुलेशन में मृत्यु संख्या।

(C) समष्टि की आयु संरचना (Age distribution in population)– यह विभिन्न आयु वर्गों की जीवों की संख्या को समष्टि में दर्शाती है। आपेक्षित रूप से भिन्न युवा एवं वृद्ध जीवों की संख्या वाली पॉपुलेशन भिन्न मृत्युदर-जन्मदर प्रदर्शित करती है तथा भावी प्रजनन स्तर को निर्धारित करती है। बोडेन हीमर (1938) ने एक पॉपुलेशन को पारिस्थितिक रूप में तीन आयु वर्गों में विभाजित किया है–

(1) पूर्व प्रजननीय (Pre-reproductive) (2) प्रजननीय (Reproductive)
(3) पश्च प्रजननीय (Post-reproductive)

उक्त तीनों इकोलॉजिकल एज ग्रुपों का अनुपात पॉपुलेशन की प्रवृत्ति का इण्डैक्स प्रस्तुत करता है।

(1) युवा जीवों का अधिक अनुपात तेजी से वृद्धि कर रही पॉपुलेशन का सूचक है।
(2) युवा जीवों का अपेक्षाकृत कम होता अनुपात घटती हुयी पॉपुलेशन का सूचक है।
(3) स्थायी पॉपुलेशन में उपर्युक्त तीनों आयु वर्ग के जीव लगभग समान अनुपात में पाये जाते हैं।

(D) जैवीय विभव (Biotic potential)– किसी पॉपुलेशन की सामान्य परिस्थितियों में वृद्धि करने की जो क्षमता होती है, बायोटिक पोटेन्शियल या रिप्रोडक्टिव पोटेन्शियल कहलाती है। किसी भी पॉपुलेशन का बायोटिक पोटेन्शियल उसके वास्तविक निष्पादन से अधिक होता है। बायोटिक पोटेन्शियल एवं पॉपुलेशन की वास्तविक वृद्धि की दर में अन्तर पर्यावरण प्रतिरोध को प्रदर्शित करता है। प्रकृति में बायोटिक पोटेन्शियल तथा पर्यावरण के बीच स्थित सन्तुलन पॉपुलेशन में वृद्धि को निर्धारित करता है।

(E) वृद्धि प्रतिरूप (Growth Pattern)– समष्टि का आकार एवं संयोजन सदैव परिवर्तित होता रहता है, जो इनकी वृद्धि-दर पर निर्भर करता है। समष्टियां वृद्धि के विशिष्ट प्रतिरूप को प्रदर्शित करती हैं, जिन्हें वृद्धि प्रतिरूप (Growth Pattern) कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–

(a) 'J' आकृति का वृद्धि प्रतिरूप। (b) 'S' आकार का वृद्धि प्रतिरूप।

(F) समष्टि उच्चावचन (Population Fluctuation)– प्रत्येक पॉपुलेशन एक निश्चित क्षेत्र में किसी पॉपुलेशन के स्थापित होने के बाद साम्यावस्था मे पहुँचने के बाद इसकी संख्या समय-समय पर साम्यावस्था स्तर से कम अथवा अधिक होती रहती है, इसी को पॉपुलेशन फलक्चुएशन कहते हैं। यह फलक्चुएशन इकॉलॉजिकल एनवायरमेंट में होने वाले परिवर्तनों अथवा इण्टर या इण्टरा स्पेसिफिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होता है। पॉपुलेशन किसी रोग या महामारी व प्रीडेटर्स की उपस्थिति या अनुपस्थिति द्वारा भी प्रभावित होती है। जब किसी क्षेत्र में जीवो की संख्या उसकी कैरिंग केपेसिटी से अधिक हो जाती है तब भी बहुत से जीवों की मृत्यु हो जाती है।

(G) समष्टि साम्यावस्था या समष्टि सन्तुलन (Population Equilibrium)– प्रत्येक पॉपुलेशन किसी नये क्षेत्र में पहुँचने पर अपने आकार में तेजी से वृद्धि करती है और अपनी वृद्धि की चरम सीमा पर पहुँचकर काफी समय तक अपने आपको स्थिर बनाये रखने का प्रयास करती है। पॉपुलेशन के इस प्रतिरूप को सिग्मॉयड (S- shaped) कर्व कहते हैं। यदि कोई पॉपुलेशन अपनी भोजन सम्बन्धी व अन्य आवश्यकताओं एवं अवशिष्ट हानिकारक पदार्थों की निष्कासन दर में होने वाली वृद्धि तथा स्वयं की वृद्धि दर में तालमेल रखते हुये वृद्धि की चरम सीमा पर पहुँचे तो वह पॉपुलेशन अपनी वृद्धि दर को अपरिवर्तित रखकर लम्बे समय तक अपने को साम्यावस्था में बनाये रखने में सक्षम रहती है।

(H) समष्टि क्षेत्रीयता या समष्टि प्रकीर्णन (Population Dispersal)– किसी पॉपुलेशन में जीवों की वितरण विधि को प्रकीर्णन कहते हैं इसके द्वारा पॉपुलेशन की आन्तरिक रचना तथा अन्य गुण प्रभावित होते हैं। किसी पॉपुलेशन में जीव संख्या वितरण के तीन रूप देखने को मिलते हैं–

(1) **समान वितरण (Uniform distribution)**– इस प्रकार का वितरण जीवों के बीच तीव्र प्रतिस्पर्धा के कारण उत्पन्न होता है, जिसके कारण जीव पूरे क्षेत्रफल में लगभग समान रूप से वितरित रहते हैं।

(2) **अनियमित वितरण (Random distribution)**– इस प्रकार के वितरण में जीव न तो पुंजित होकर झुण्डों में रहते हैं न ही वे समान रूप से वितरित होते हैं। इस प्रकार का वितरण प्रायः समान वातावरण के कारण होता है।

(3) **झुरमुट अथवा झुण्ड वितरण (Clumped distribution)**– इस प्रकार के वितरण में जीव प्रायः झुण्ड बनाकर रहते हैं जो सपुंजन (aggregation) की निम्न तीन अवस्थाओं को प्रदर्शित करता है, परन्तु एक पॉपुलेशन एक ही प्रकार के पुंज बनाकर रहती है–

(a) अनियमित सपुंजन (Random Clumped)
(b) एक समान सपुंजन (Uniform Clumped)
(c) पुंजित सपुंजन (Aggregated Clumped)

किसी पॉपुलेशन के जीवों में सपुंजन निम्न कारणों द्वारा प्रभावित होता है–

(1) स्थानीय आवास दशा में अन्तर।
(2) जलवायु में दैनिक व मौसमी परिवर्तन।
(3) जनन क्रिया।
(4) सामाजिक आकर्षण।

मधुमक्खी और दीमक सामाजिक सपुंजन के उपयुक्त उदाहरण हैं। सपुंजन के कारण जीवों में आवास तथा भोजन के लिये स्पर्द्धा उत्पन्न होती है, परन्तु इससे जीवों को लाभ भी होते हैं।

(I) समष्टि वितरण या परिक्षेपण (Population Distribution)– किसी समष्टि की जीव संख्या में आन्तरिक वितरण को परिक्षेपण कहते हैं। इसके द्वारा समष्टि की आन्तरिक रचना तथा अन्य गुण प्रभावित होते हैं।

प्रश्न–7. समष्टि पारिस्थितिकी की मूलभूत संकल्पना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए तथा इसकी अभिलक्षणिक विशेषताएँ बताइए।

अथवा

एकोस्पिशीज से क्या तात्पर्य है? लिखिए।

उत्तर– समष्टि पारिस्थिकी की मूलभूत संकल्पना– समष्टि में कई प्रकार की अभिलक्षणताएँ पायी जाती हैं, जैसे– परिक्षेपण, घनत्व, लिंग अनुपात, जन्मदर व मृत्युदर आदि। किसी जाति की समष्टि मुख्यतः प्रजनन, व्यष्टियों का सक्रिय स्थानान्तरण या इनके वायु तथा जल द्वारा निष्क्रिय स्थानान्तरण के फलस्वरूप पैदा होती है। समष्टि वृद्धि के सभी तीन साधन पर्यावरण के अनेक कारकों द्वारा तथा व्यष्टियों की लक्षणताओं के कारण प्रभावित होते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में व्यष्टियों के समूह संख्या में वृद्धि करते हैं। पर्यावरण कभी भी स्थिर नहीं होता है तथा समय–समय पर बदलता रहता है। अतः समष्टि पर पर्यावरण एक प्राकृतिक रोक लगाने का कार्य करता है। किसी जाति की व्यष्टियों की संख्या में वृद्धि स्वयं जाति से सम्बन्ध के फलस्वरूप होती है तथा क्षेत्र में उगने वाली अन्य अन्योन्याश्रित जातियों से होती है। इस प्रकार की वृद्धि के द्वारा जाति पर हानिकारक तथा लाभदायक प्रभाव पड़ते हैं।

समष्टि की अभिलक्षणिक विशेषताएँ– समष्टि जीवधारियों की एक जाति का सामूहिक समूह होता है तथा एक विशेष स्थान पर मिलता है। समष्टि निम्नलिखित अभिलक्षणिक विशेषताएँ दर्शाता है–

(1) समष्टि वृद्धि एवं घनत्व (2) परिक्षेपण (3) आयु संरचना
(4) नेटेलिटी या जन्मदर (5) मोर्टेलिटी या मृत्युदर (6) जीवन टेबिल्स

इकोस्पिशीज– एकोस्पिशीज वर्गीकरण की वह इकाई है जिसमें एक या एक से अधिक इकोटाइप्स पाए जाते हैं, जो यद्यपि इन्टरफर्टाइल होती है किन्तु क्रॉस नहीं करती है अथवा जीवनक्षम संतति उत्पन्न नहीं होती यदि इनका क्रॉस अन्य इकोस्पिशीज के इकोटाइप्स से किया जाता है।

प्रश्न–8. पारिस्थितिकी के उद्देश्य, महत्व एवं अन्य विज्ञानों से इसका सम्बन्ध स्थापित कीजिये। **[भोपाल 2008,10]**

अथवा

पारिस्थितिकी या पर्यावरणीय जीव विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध स्थापित कीजिये।

[इन्दौर 2005,10]

उत्तर– पारिस्थितिकी के अन्तर्गत जीवित पौधों एवं जन्तुओं का अध्ययन उनके प्राकृतिक आवास के आधार पर किया जाता है। पर्यावरण से सम्बन्धित विभिन्न कारकों जैसे वायु, प्रकश, वर्षा, तापमान, पहाड़ों की ऊँचाई, मृदा एवं रासायनिक संरचना एवं जीवधारियों का प्रभाव पौधों एवं जन्तुओं पर पड़ता है। जिस कारण उनकी वृद्धि, आवास, जीवन चक्र में अनेक प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। हैकिल के अनुसार, जीवधारियों एवं पर्यावरण के सम्बन्धों का अनुपात के अध्ययन को पारिस्थितिकी या पर्यावरणीय जीवविज्ञान कहा जाता है। ओडम के अनुसार पारिस्थितिकी के अन्तर्गत प्रकृति की संरचना और इसके कार्यों का अध्ययन किया जाता है।

पर्यावरणीय जीव–विज्ञान के उद्देश्य– मानव जाति के उत्थान में पर्यावरण एवं पर्यावरणीय जीव विज्ञान का अत्यन्त महत्व है। आधुनिक पर्यावरणीय जीव विज्ञान के अन्तर्गत जीवधारियों एवं वातावरण के बीच एवं एक दूसरे पर आश्रित क्रियात्मक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक टेलर (Taler, 1946) के अनुसार पारिस्थितिकी वह विज्ञान है, जिसमें सभी जीवधारियों के सम्बन्धों को उनके समस्त प्रकार के वातावरणों के साथ अध्ययन किया जाता है। ये ही पर्यावरणीय जीवविज्ञान के उद्देश्यों का सृजन करते हैं। कृषि एवं अन्य क्षेत्रों जैसे– फसलों का चक्रीकरण (Crop rotation), खरपतवारों के नियंत्रण आदि पारिस्थितिकी या पर्यावरणीय जीवविज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान है। इसके अतिरिक्त सामाजिक वानिकी, कीट नियंत्रण, मृदा संरक्षण, वन्य जीवन,जल वितरक, जैविक निरीक्षण

आदि कार्यों में पर्यावरणीय जीव विज्ञान का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। इसी विज्ञान के द्वारा प्रदूषण जैसी गम्भीर समस्या से छुटकारा सम्भव हो सकेगा।

पारिस्थितिक विज्ञान का महत्व–

1. वातावरण में अचानक परिवर्तन हो जानेके कारण अनेक प्रकार की बीमारियां (Disease) उत्पन्न हो जाती हैं। जो महामारी का रूप धारण कर सकती है। पारिस्थितिकी के अध्ययन से वातावरण को नियंत्रित करके बहुत से रोगों से बचा जा सकता है।
2. अनेक प्रकार के उपयोगी पदार्थों, औषधियों एवं आर्थिक महत्व की वस्तुओं को प्रचुर मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है।
3. बढ़ती हुई जनसंख्या एवं औद्योगीकरण के कारण पारिस्थितिक तन्त्र में विभिन्न प्रकार के संकट उत्पन्न हो रहे हैं। जिनका निवारण पारिस्थितिक विज्ञान के अध्ययन द्वारा ही सम्भव हो सका है। मृदा अपरदन के कारण अधिकांश भूमि अनुपजाऊ हो रही हैं, मनुष्य अपने स्वार्थवश वनों एवं वन्य प्राणियों का विनाश कर रहा है। जिसके कारण एक संकट उत्पन्न हो सकता है। लेकिन पारिस्थितिक विज्ञान के अध्ययन से इन सभी समस्याओं का निराकरण किया जा सकता है।
4. भूमि संरक्षण के अध्ययन एवं विधियों द्वारा अनुपजाऊ एवं ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाकर उसमें पैदावार की जा सकती है और देश की भुखमरी एवं बेरोजगारी की समस्या को समाप्त किया जा सकता है।

पर्यावरणीय जीव विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध– जीव विज्ञान को जीवन का विज्ञान कहा जाता है जिसके अन्तर्गत जीव धारियों की आकारिकी,पारिस्थितिकी, आनुवांशिकी, विकास, आणुविक जीव विज्ञान आदि का अध्ययन किया जाता है। जीवधारियों के रूपों के अध्ययन को टेक्सोनोमी कहते हैं जिसमें विशिष्ट प्रकार के जीवधारियों की आकारिकी, कार्यिकी एवं पारिस्थितिकी को शामिल किया जाता है।

जीव विज्ञान का वर्गीकरण तीन बड़े प्रभागों, जैसे वनस्पति (Botany), जन्तु विज्ञान (Zoology) तथा सूक्ष्म जैविकी (Microbiology) में किया गया है। अन्य समूहों में केवल सीमित जीवधारियों को वर्गीकृत किया गया है– जैसे– कवक, शैवाल, कीट विज्ञान, प्रोटोजूलोजी आदि। इस प्रकार पारिस्थितिकी जीव विज्ञान की मूल शाखा है।

पारिस्थितिकी में जीवधारियों का अध्ययन उनके स्तर से हट कर किया जाता है, जैसे– पारिस्थितिक तन्त्र में यह स्तर जीवधारियों के समूहों द्वारा होता है। पारिस्थितिकी में जनसंख्या का अर्थ एक ही प्रकार के जीवधारियों के समूहों द्वारा होता है। इसी प्रकार समुदाय एक क्षेत्र में पायी जाने वाली जनसंख्या को कहते हैं। पारिस्थितिकी तन्त्र में समुदाय के जीवधारी एवं अजीवित वातावरण साथ–साथ पाये जाते हैं।

पारिस्थितिकी के अध्ययन में भौतिक विज्ञानों जैसे, भौतिकी, रसायन विज्ञान, गणित तथा स्टेटिस्टिक्स आदि विषयों का महत्वपूर्ण योगदान है। इन विज्ञानों की सहायता से जनसंख्या समुदायों तथा पारिस्थितिक तन्त्रों के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिलती है। सभी प्रकार के विज्ञान अथवा भौतिकीय विज्ञान तथा जीवविज्ञान की पारिस्थितिकी (Ecology) में देखने को मिलता है। इस प्रकार के अर्न्तसम्बन्धों के ज्ञान से भविष्य में आने वाली समस्याओं के निदान हेतु बल मिलता है। पारिस्थितिक समस्याओं को हल करने में भौतिक विज्ञान, गणित एवं सांख्यिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अध्ययन के लिये स्पेक्ट्रोमीटर, इन्फ्रारेड गैस एनालाइजर, फ्लेम फोटोमीटर कम्प्यूटर्स, कैलोरीमीटर आदि उपकरणों का उपयोग किया

जाता है। इनका सम्बन्ध भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान एवं जैव रसायन तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं से होता है। पारिस्थितिक विज्ञान के अध्ययन से हमें वातावरण की सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है जिनके द्वारा प्राकृतिक स्रोतों को नष्ट होने से बचाया जा सकता है। आधुनिक युग में प्रदूषण समस्या प्रतिदिन गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। जिसका निवारण पारिस्थितिकी विज्ञान के अध्ययन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। कृषि में खेती फल तथा फूलों को उगाने के लिये पारिस्थितिक विज्ञान का उल्लेखनीय योगदान है।

प्रश्न–9. पारिस्थितिक प्रारूप या इकोटाइप पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

[भोपाल 2006,07, जीवाजी 2006,10]

अथवा

इकोटाइप क्या हैं तथा कितने प्रकार के होते हैं? वर्णन कीजिये।

उत्तर– इकोटाइप को पारिस्थितिक रेसेज भी कहते हैं। **टयूरेसन** के अनुसार यह एक उत्पाद है जो किसी विशिष्ट वास–स्थान की किसी इकोस्पिशिज से जीनोटिपीकल प्रेरण से प्राप्त होता है। पौधे साधारणतया भिन्न होते हैं। किन्तु वे इण्टरफरटाइल होते हैं। इसलिये उन्हें वर्गिकी जाति में शामिल कर लिया जाता है। किसी विशिष्ट जाति के विभिन्नत प्रकार के इकोटाइप्स मृदीय, जैविय तथा माइक्रोक्लाइमेट की आवश्यकताओं में भिन्न होते हैं।

उदाहरण– यूफोर्बिया हिरटा (Euphorbia hirta), कोशियातोरा (Cossiatora), यू थाइसीफोलिया तथा जेन्थियम स्टूमेरियम (Xanthium stumerium) आदि।

रामाकृष्णन के अनुसार यू. हिरटा के दो इकोटाइप्स पाये जाते हैं जिनमें से एक के दो इकेड्स होते हैं।

इकोटाइप– (1) सीधा प्रकार (Erect type) जो नम स्थानों में उगते हैं।

इकोटाइप– (2) शयान प्रकार (Prostrate type) इनमें दो इकेड्स होते हैं।

(1) इकेड–1. शयान प्रकार

(2) इकेड 2. शयान सघन प्रकार।

प्रश्न–10. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–

(i) इकोटोन (ii) समुदाय के अभिलक्षण। [भोपाल 2005,07,2008,10]

उत्तर– (i) इकोटोन (Ecotone)– वानस्पतिक क्षेत्र जिसके द्वारा दो विभिन्न प्रकार के समुदाय अलग होते हैं इकोटोन कहलाता है। प्रायः किनारे वाले क्षेत्रों को आसानी से पहचाना जाता है। पादप समुदाय का विकास मौजूद वातावरण के अनुसार होता है। अतः समुदाय संरचना एवं उसका दृश्य देखकर उनके वातावरण में अन्तर जैसे नमी, जैवीय या अन्य कारकों के प्रभावों का अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार इकोटोन एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ पर दो विभिन्न प्रकार के वातावरणीय प्रतिमान (Patterns) के प्रभावों को जो एक साथ कार्य करते हैं, का अध्ययन किया जाता है। जिसके फलस्वरूप इकोटोन्स की वनस्पतियां विशिष्ट प्रकारों की होती हैं। इकोटोन की चौड़ाई संकरी अथवा चौड़ी हो सकती है। उदाहरण के लिये दो निकटस्थ प्लॉट्स के मध्य के इकोटोन्स (Ecotones) में से एक प्लाट को चरने से बचाने के लिये कंटीले तारों आदि से सुरक्षित कर दिया जाता है, किन्तु दूसरे प्लॉट को खुला छोड़ दिया जाता है, जिससे पौधों को पशु चर सकें। अतः इनमें सँकरा इकोटोन किन्तु पहले वाले में बहुत विस्तृत इकोटोन देखने को मिलता है जिसमें समुदाय भिन्न लगातार होता रहता है। अतः कहीं निकटस्थ समुदायों की अपेक्षा इकोटोन में जाति की किस्में अधिक पायी जाती हैं।

(ii) समुदाय के अक्षिलक्षण **(Characteristics of a community)–** समष्टि (Population) के समान समुदाय में भी अपने अभिलक्षण पाये जाते हैं, जो किसी जाति के

व्यक्तिगत घटक द्वारा प्रदर्शित ...न के समान स्तर के होते है जो निम्न प्रकार है-

1. **जाति विविधता (Species diversity)**– प्रत्येक समुदाय विभिन्न प्रकार के जीवधारियों पौधों, जन्तुओं एवं सूक्ष्म जीवों से बनती हैं जो वर्गिकी रूप से (taxonomically) एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। किसी समुदाय में जातियाँ तथा समष्टि बाहुल्य भी भिन्न होते हैं।

जाति विविधता के दो स्तर होते हैं–

(i) **क्षेत्रीय विविधता (Regional diversity)**– इसमें सम्पूर्ण राष्ट्रों (nations) अथवा महाद्वीप (continents) के भाग होते हैं जिनमें विभिन्न समुदाय पाये जाते हैं।

(ii) **स्थानीय विविधतायें (Local diversities)**– इसके अन्तर्गत किसी राष्ट्र मे विभिन्न समुदाय पाये जाते हैं जो विभिन्न ऊँचाईयों पर स्थित होते हैं।

2. **वृद्धि रूप एवं संरचना (Growth form and structure)**– इसके अन्तर्गत समुदाय के प्रमुख वृद्धि रूपों जैसे- वृक्षों, झाड़ियों तथा मॉसेज आदि का वर्णन करते हैं। प्रत्येक वृद्धि रूप जैसे वृक्षों में विभिन्न प्रकार के पादप पाये जाते हैं, जैसे- चौड़ी पत्ती वाले वृक्ष, सदाबहार वृक्ष आदि। विभिन्न वृद्धि रूपों के विन्यास के अनुसार समुदाय संरचना प्रतिरूप का निर्धारण किया जाता है।

3. **प्रमुखता या प्रभाविता (Dominance)**– समुदाय की कुछ जातियाँ ही समुदाय की प्रकृति का निर्धारण करती हैं। अतः समुदाय की सभी जातियाँ महत्वपूर्ण नहीं होती हैं। अतः वे जातियाँ जो कि समुदाय के प्रभाव को प्रमुख रूप से नियंत्रित करती हैं, वे जातियाँ प्रभावी (Dominant) कहलाती हैं।

4. **अनुक्रमण (succession)**– प्रत्येक समुदाय का परिवर्धनशील इतिहास होता है। यह समय के साथ दिशा वाले परिवर्तन के साथ विकसित होता है।

5. **पोषक संरचना (Trophic structure)**– पोषण के अनुसार प्रत्येक समुदाय जो स्वपोषी पौधों एवं परपोषियों जन्तुओं का समूह होता हैं स्वयं पर्याप्त होता है जो जीवधारियों का पूर्ण संतुलित समुच्चय कहलाता हैं।

प्रश्न–11. पादप समुदाय का विकास किस प्रकार होता है? वर्णन कीजिये। [सागर 2008]

अथवा

पादप समुदाय के विकास पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। [जीवाजी 2005,07, सागर 2006]

अथवा

समुदाय से आप क्या समझते हैं? पादप समुदाय के प्रमुख लक्षणों का वर्णन कीजिये।

[भोपाल 2006,07,09]

उत्तर– पादप समुदाय का विकास (Evolution of Plant Community)– पुराने पादप समुदाय के बीज स्पोर्स आदि विकिरण द्वारा नग्न क्षेत्र पर पहुँचकर वहाँ अंकुरण करके पौधों का निर्माण करते हैं जिससे नवीन पादप समुदाय विकसित हो जाता है। इस क्षेत्र के बदलते हुये वातावरण के कारण इनमें से कुछ पौधों की जातियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा वह पौधे जिनके लिये बदला हुआ वातावरण अनुकूल होता है उनकी जातियां जीवित रहती हैं। व ये अंकुरण करके नये पौधों को जन्म देती हैं। इस प्रकार उत्पन्न पौधे प्रजनन द्वारा अनेक पौधे उत्पन्न करते हैं और नये वातावरण में उगते रहते हैं। इस प्रकार उत्पन्न पौधे पायनियर्स (Pioneers) कहलाते हैं। जो नये पादप समुदाय को प्रदर्शित करते हैं।

अतः इस प्रकार की विधि जिसके अन्तर्गत नये क्षेत्र में विशिष्ट प्रकार की पादप जातियाँ एक स्थान से विकिरण द्वारा पहुच कर वहाँ पर स्थापित होकर अपने समुदाय का निर्माण करती है। 'एसेसिस' (Ecesis) कहलाती हैं, अतः पादप समुदाय का निर्माण माइग्रेशन एवं एसेसिस के फलस्वरूप निम्न विधियों के द्वारा होता है-

1. **पौधों का स्थानान्तरण (Migration of Plants)**– प्रायः पौधे दूसरे क्षेत्रों से समीपवर्ती क्षेत्रों में विभिन्न विधियों द्वारा उड़कर स्थानान्तरित होते है। कुछ पौधे दूसरे देशों से भी स्थानान्तरित होते हैं। जैसे-जलकुम्भी (Eichhomia) जो कि दक्षिण अमेरिका से भारत में आया है। प्रायः पौधों में स्थानान्तरण निम्न विधियों के द्वारा भी होता है–

(i) **जल द्वारा**– नारियल एवं जलकुम्भी।

(ii) **जन्तुओं द्वारा**– तम्बाकू तथा जेन्थियम।

(iii) **स्फुटन विधि द्वारा**– फुहारखीरा, जिरेनियम आदि।

2. **एसेसिस (Ecesis)**– स्थानान्तरण के पश्चात् पौधे नये आवास स्थानों में पहुंचकर पौधों की नयी-नयी जातियाँ नये वातावरण में उगने लगती हैं। इस प्रकार पुराने वातावरण में उगी पौधों की जाति में तथा नई जातियों में संघर्ष होने लगता हैं। धीरे-धीरे नयी जातियां पुरानी जातियों के साथ उस वातावरण से समायोजन कर लेती हैं, जो एसेसिस कहलाता है। एसेसिस के निर्माण में बीजों के अंकुरण, बीजांकुरों की वृद्धि में प्रतिस्पर्धा एवं प्रजनन महत्वपूर्ण स्थान होता है। पादप समुदायों में विकास की क्रिया बहुत धीमी गति से किन्तु निश्चित प्रकार की होती है। जब वातावरण में स्थिरता आने लगती है तब मौसम के अनुसार निश्चित प्रकार की वनस्पति का निर्माण होता है।

3. **क्लाइमेटिक क्लाइमेक्स (Climatic climax)**– प्रभावशील पौधे सर्वाधिक संख्या में उगते हैं जो उनकी क्लाइमेक्स कहलाती हैं। यद्यपि एक स्थान का मौसम् लगभग एक जैसा होता है, किन्तु विभिन्न कारक जैसे- मृदाकारक (edaphic) एवं जैवीय कारक (Biotic factors) पादपों को प्रभावित करते हैं जिसके फलस्वरूप क्लाइमैक्स वैजीटेशन प्रभावित हो जाती है। प्रत्येक समुदाय का अपना संगठन, संरचना एवं परिवर्द्धनशील इतिहास होता है।

(I) संगठन (Composition)– समुदाय छोटे अथवा बड़े हो सकते हैं। बड़े समुदाय कई हजार वर्ग किलोमीटर के क्षेत्रफल को वनों के रूप में घेरते हैं अन्य जैसे मरुस्थल आदि समुदाय छोटे होते हैं जो सैकड़ों किलोमीटर क्षेत्रफल वाले होते हैं। बहुत छोटे आकार वाले समुदाय सूक्ष्म जीवियों के समूह कहलाते हैं। जो सूक्ष्म वास-स्थानों जैसे पत्ती की सतह, गिरे हुये लकड़ी के लट्ठे, लिटर, मृदा आदि में पाये जाते हैं। इन समुदायों में जातियों की संख्या, समष्टि बाहुल्यता में बहुत भिन्नतायें पायी जाती हैं।

प्रत्येक समुदाय में अनेक प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं। सभी जातियाँ समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होती हैं किन्तु यह जातियाँ वासस्थान को रूपान्तरित कर समुदाय की अन्य जातियों की वृद्धि नियंत्रित करती हैं। अतः इन्हें समुदाय का केन्द्रक कहते हैं और यह जातियां प्रभावी कहलाती हैं।

(II) संरचना (Structure)– संगठन एवं प्रभाविता के अतिरिक्त समुदायों को संरचना द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जिसमें उनके सदस्यों का आकारिकीय विन्यास पाया जाता है। अतः संरचनात्मक दृष्टिकोम से समुदाय का क्षैतिजीय (Horizontally) विन्यास पाया जाता है। अतः संरचनात्मक दृष्टिकोण से समुदाय को क्षैतिजीय, उपसमुदायों में विभक्त किया जा सकता है जो समांग जीवन रूप तथा पारिस्थितिक सम्बन्धों की इकाइयाँ होते हैं। इस प्रकार का क्षैतिजीय विभाजन समुदाय में अनुक्षेत्र का निर्माण करता है। उथले, तालाबों में बहुत कम

अनुक्षेत्र पाया जाता है। गहरे तालाबों तथा झीलों में तीन क्षेत्र पाये जाते हैं। जैसे– वेलांची क्षेत्र, लिम्नोटिक क्षेत्र तथा प्रोफण्डल क्षेत्र। प्रत्येक क्षेत्र में जीवधारी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। संरचना का दूसरी अभिमुखता अधिक सामान्य होता है जिसे स्ट्रेटीफिकेशन कहते हैं। जिसके समुदाय में खड़े परिवर्तन पाये जाते हैं अर्थात् क्षैतिज परिवर्तन नहीं पाये जाते हैं।

एक क्षैतिज क्षेत्र में अनेक खड़ी मंजिले पायी जाती हैं। कभी-कभी स्तर विन्यास अधिक जटिल हो जाता है। जिसमें समुदाय जातियों के अनेक खड़े स्तरों को प्रदर्शित करता है और प्रत्येक स्तर लाक्षणिक वृद्धि करता है और प्रत्येक स्तर लाक्षणिक वृद्धि रूप का बना होता है। घास के मैदान के समुदायों में एक अन्तः भूमिक कर्श होता है, जिसके आधारी भाग की वनस्पति जैसे घासों के राइजोम्स होते हैं जो लिटर (litter) तथा पौधों के कूड़े करकट तथा जानवरों के मलवे से ढके रहते हैं तथा शाकीय अधोस्तर जिसके ऊपरी भाग में घासें तथा शाक तथा विशिष्ट प्रकार की जन्तु जात (Fauna) पाया जाता है, वन समुदाय में स्तर विन्यास बहुत जटिल होता है।

(III) उद्गम एवं परिवर्द्धन (Origin and development)– एक समुदाय अपने विशेष पर्यावरण के साथ एक अस्तित्व (entity) बनाता है। जिसका अपना उद्गम एवं परिवर्धन होता है। एक अनुत्पादक (barren) क्षेत्र में बीज तथा प्रवर्ध्य पहुँचते हैं जो अंकुरण के पश्चात् नवोद्भिदों का विकास करते हैं और इनसे फिर प्रोढ़ पौधे बन जाते हैं। इनमें से कुछ जीवित रहते हैं क्योंकि उस समय तक नया पर्यावरण उन सभी के लिये उपर्युक्त नहीं होता है। अतः इनमें से कुछ में सफलतापूर्वक वृद्धि होती हैं। इस प्रकार की सफलतापूर्वक वृद्धि एवं नवोद्भिद की स्थापना का होना 'ऐसेसिस' कहलाता है। माइग्रेशन के परिणामस्वरूप तथा उसके बाद एसेसिस के होने से नये क्षेत्र में मण्डल बन जाते हैं जिसे मण्डलीकरण कहते हैं।

प्रश्न–12. पादप समुदायों के स्वरूप का वर्णन कीजिये। [जीवाजी 2005, 07]

अथवा

पादप समुदायों के स्वरूप की इकाइयों का वर्णन कीजिये। [जीवाजी 2008,10]

उत्तर– पादप समुदायों का स्वरूप (Form of plant communities)– पादप समुदायों के स्वरूप की इंकाइयाँ (Units) निम्न प्रकार हैं–

1. पादप निर्माण (Plant formation)– यह वनस्पति की मुख्य इकाई है जिसका चयन मौसम अथवा मृदा द्वारा किया जाता है। मौसम के अनुसार मौसमी पादप निर्माण होता है तथा मृदा के अनुसार मृदीय पादप निर्माण होता है। दोनों प्रकार के निर्माण एवं कुछ स्थानों में मानव क्रियायें एन्थ्रोपोजेनिक निर्माणों के लिये जिम्मेदार होती हैं। पादप निर्माण द्वारा वनस्पति के प्रकार का निर्माण होता है, जो किसी क्षेत्र में बहुत समय तक बिना परिवर्तन हुये चलता रहता है। पादप निर्माण की क्लाइमैक्स वेजीटेशन में एक या अनेक प्रकार की पादप जातियाँ, प्रभावशाली (Dominant) होती है। जैसे मध्यप्रदेश के डेसीडुअस जंगलों में साल (Shorea robusta), टीक (Tectona grandis), टैरोकार्पस सेन्टोलीनस तथा क्लोरोजाइलोन स्विटेनिआ (Chlorozylon switenia) आदि की जातियाँ प्रभावशली होती हैं। रेन फॉरेस्ट्स, डेसीडुअस फॉरेस्ट्स, पाइन फॉरेस्ट्स, स्क्रब जंगल ग्रासलैण्ड, मरुस्थल, मैनग्रूब्स आदि प्रमुख प्लान्ट फॉर्मेशन कहलाते हैं। जिनके निर्माण में प्रभावशाली जातियाँ पायी जाती हैं।

2. एसोसियेशन्स (Associations)– पादप निर्माण में एक या एक से अधिक प्रभावशाली जातियां पायी जाती हैं। ये प्रभावशाली पादपों की जातियाँ पादप निर्माण में से विभिन्न प्रकार के कॉम्बीनेशन्स बनाते हैं। इस प्रकार का बना प्रत्येक कॉम्बीनेशन पादप

एसोसियेशन (Plant association) कहलाता है अर्थात् पादप का प्रमुख उपप्रभाग (Sub-division) पादप एसोसियेशन कहलाता है।

3. कन्सोसियेशन (Consociations)– जब किसी पादप एसोसियेशन की एक जाति प्रभावशाली होकर पौधों के वितरण को प्रदर्शित करती हैं, तो यह कन्सोसियेशन कहलाती हैं। उदाहरण के लिये साल एवं टेरोकार्पस के निर्माण में कुछ कारण ऐसे हो सकते हैं, जो उन क्षेत्रों में टेरोकार्पस (Pterocarpus) को प्रभावशाली बानने में सहायक होते हैं। अतः पादपों की एक जाति अपना प्रभाव प्रदर्शित करती हैं, जो कन्सोसियेशन कहलाती हैं।

इस प्रकार एक पादप एसोसियेशन एक अथवा अनेक पादप कन्सोसियेशन हो सकते हैं। कुछ स्थानों में टाइफा (Typha) एवं स्क्रिपस (Scripus) के पौधे एक ही स्थान पर मिले हुये उगलते हैं जो पादप एसोसियेशन का निर्माण करते हैं।

4. विषमवासी (Faciation)– एसोसियेशन्स के ऐसे भाग जिनकी विशिष्टता दो या अधिक प्रभावशालियों को प्रदर्शित करती हैं, किन्तु सभी की रूप आकृति समान होती हैं, विषमवासी (Faciation) कहलाते हैं।

5. पादप समाज (Plant society)– पादप समाज पादप एसोसियेशन का आकारिकीय भाग होता है जिसमें एक या अधिक कम प्रभावशाली सहायक जातियाँ स्थानीय नियंत्रण के कारण पाई जाती हैं। अतः पादप समाज पादप एसोसियेशन की सहायक जातियों का समुदाय कहलाता है। वनों में निम्नलिखित तीन प्रकार के समाज में पाये जाते हैं–

(i) आस्पेक्ट सोसाइटीज (Aspect societies)– इस प्रकार के समाज में कुछ समय के लिये महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं। ये परिवर्तन प्रायः पुष्पन (flowering) के समय देखने को मिलते हैं।

(ii) लेयर सोसाइटीज (Layer societies)– पादपों के समाज वनों में झाड़ियों एवं शाकों के स्तरों का निर्माण करते हैं।

(iii) क्रिप्टोगेमिक सोसाइटीज (Cryptogamic societies)– इस प्रकार के पादप समाज वनों के धरातल का निर्माण इस प्रकार करते हैं जिनमें अधिकतर लिवरवर्ट्स (Liverworts), लाइकेन्स (Lichens), एवं मॉसेज (Mosses) होते हैं।

प्रश्न–13. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये– [सागर 2005]

(i) आवृत्ति (Frequency) [जीवाजी 2006,10]

(ii) घनत्व (Density)

(iii) आवरण (Cover) [जीवाजी 2007, सागर 2007 भोपाल 2008]

उत्तर– **(i) आवृत्ति (Fequency)**– व्यक्तिगत जातियों के किसी क्षेत्र में वितरण (dispersion) की डिग्री (degree) को प्रतिशत प्राप्ति (percentage occurrence) द्वारा प्रदर्शित करते हैं जो आवृत्ति कहलाती है। किसी क्षेत्र के पादप समुदाय में पादप जातियों की आवृत्ति ज्ञात करने के लिये एक निश्चित माप के आकार के क्वाड्रेट (quadrat) को अलग-अलग कई स्थानों पर एवं विभिन्न दिशाओं में रखें व प्रत्येक बार क्वाड्रेट में आने वाली पादप जातियों को गिनकर नोट कर लें व इनकी संख्या को तालिकाबद्ध कर लें। व प्रत्येक क्वाड्रेट में अलग-अलग पादप जातियों की संख्या लिखे। इसके पश्चात् सूत्र की सहायता से पादप जातियों की आवृत्ति (Frequency) की गणना कर ली जाती है।

क्वाड्रेट द्वारा प्राप्त पौधों की आवृत्ति का प्रतिशत निम्न प्रकार ज्ञात किया जाता है

$$\text{आवृत्ति \%} = \frac{\text{क्वाडेट्स की कुल संख्या जिसमें एक विशिष्ट पादप जाति उपस्थित है}}{\text{क्वाड्रेट्स की कुल संख्या जिनका अध्ययन किया गया है}} \times 100$$

पादप जातियों एवं क्वाड्रेट की संख्या के आधार पर पादप जातियों की आवृत्ति निम्न प्रकार होगी–

1. साइनोडोन डेक्टाइलोन $= \frac{10}{10} \times 100 = 100\%$

2. यूफोर्बिया हिरटा $= \frac{6}{10} \times 100 = 60\%$

3. इण्डिगोफेरा $= \frac{3}{10} \times 100 = 30\%$

(ii) घनत्व (Density)– किसी क्षेत्र के पादप समुदाय में पादप जातियों का घनत्व ज्ञात करने के लिये एक निश्चित माप के आकार का क्वाड्रेट लेकर अलग–अलग कई स्थानों पर विभिन्न दिशाओं में फेंकते हैं और प्रत्येक बार क्वाड्रेट में आने वाली पादप जातियों को गिनकर नोट कर लीजिये और उनकी संख्या को सारणीबद्ध कर लीजिये। प्रत्येक क्वाड्रेट में अलग–अलग पादप जातियों की संख्या लिखिये। इसके पश्चात् सूत्र की सहायता से पादप जातियों के घनत्व की गणना कर लेते हैं।

$$\text{घनत्व (Density)} = \frac{\text{विशिष्ट पादप जाति की कुल संख्या}}{\text{क्वाड्रेट की कुल संख्या जिनका अध्ययन किया गया है}}$$

तालिका में प्रदर्शित पादप जातियों का घनत्व निम्न प्रकार होगा–

1. सायनोडोन डेक्टाइलोन $= \frac{43}{10} = 4.3$

2. यूफोर्बिया हिरटा $= \frac{33}{10} = 3.3$

(iii) आवरण (Cover)– सामान्य रूप से इसका प्रयोग एक पौधे द्वारा घेरे गये क्षेत्र से होता है जो शाकीय आवरण या आधार क्षेत्र होता है। प्रायः इसका अनुप्रयोग पौधों के भूमि से ऊपर वाले भागों के लिये किया जाता है, जैसे पत्तियाँ, तने तथा पुष्पक्रम जो ऊपर से दिखाई देते हैं। यह प्राप्ति योग्य शाक (harbage) का एक बहुत अच्छा माप होता है। इसका आंकलन चार्ट क्वाड्रेट, लाइन इण्टरसेप्ट अथवा पॉइन्ट फ्रेम द्वारा लगाया जाता है।

प्रश्न–14. इकेड्स को संक्षेप में समझाइये। **[जीवाजी 2005, भोपाल 2007,10]**

अथवा

इकेड्स या इकोफेन्स का क्या अर्थ है? स्पष्ट कीजिये। **[रीवा 2007]**

उत्तर– इकेड्स, इकोफेन्स (Ecophenes) भी कहलाते हैं जो वातावरणीय प्रेरित भिन्नतायें प्रदर्शित करते हैं। एक ही जाति के अनेक इकेड्स की आकृतियाँ भिन्न हो सकती हैं अर्थात् उनके वर्धी अंगों के आकार में भिन्नता, पत्तियों की संख्या, तना, पुष्प तथा वृद्धि स्वभाव में भी भिन्नता होती है, किन्तु यह आनुवंशिक रूप से समान होते हैं अतः पौधों में इस प्रकार की पायी जाने वाली भिन्नतायें केवल वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप होती हैं और इस प्रकार की भिन्नतायें स्थिर नहीं होती हैं जो कायिक तथा परिवर्तनशील होती हैं। यदि एक

ही प्रकार के प्रकृतिवास में विभिन्न इकेड्स को दूसरे प्रकार के इकेड्स के वातावरण से रोपाई (transplant) की जाती है तो सभी इकेड्स समान प्रकार के दिखायी देते हैं। भारत में रामा कृष्णन ने इस पर महत्वपूर्ण कार्य किया उन्होंने बताया कि यूफोर्बिया हिरटा के दो इकेड्स होते हैं, जिनमें से एक शुष्क कठोर मृदा पर उगते हैं और प्रोस्टेट प्रकार कहलाते हैं। दूसरे फुटपाथ पर पाये जाते हैं जो प्रोस्टेट कॉम्पेक्ट प्रकार कहलाते हैं। प्रत्येक जाति में दो प्रकार के इकेड्स पाये जाते हैं–

(i) जो सुरक्षा के अन्तर्गत बास्केट रूप स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं।

(ii) जिनमें अत्यधिक चराई वाले स्थान तश्तरी के आकार के हो जाते हैं।

चराई के कारण सीधे तने के आकार में प्रति रेसीम (Raceme) शूकियों (Spikes) की संख्या प्रति शूकी (Spike) पर शूकिकाओं (Spikelets) की संख्या तथा शूकिकाओं के निचले ग्लूम की लम्बाई एवं चौड़ाई ह्रासित (Reduced) हो जाते हैं। साथ ही साथ कुछ कार्यिकी भिन्नतायें भी पायी जाती हैं। जिसमें लाल वर्णक (Red pigments) का परिवर्धन तथा पूर्व पुष्पन में संदमन हो जाता है।

प्रश्न–15. रोनकियर के नवीन रूपों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर– प्रतिकूल मौसम में चिरकालिक कलिकाओं (perennating buds) की स्थिति एवं संरक्षण की डिग्री मौसम के लिए पादप अनुकूल का प्रमुख लक्षण कहलाता है। इसी आधार पर रोनकियर (1934) ने उच्च श्रेणी के पादपों को निम्न प्रकार पाँच प्रमुख जीवन रूप वर्गों (classes) में बाँटा गया है–

(1) फेनेरोफाइट्स (Phanerophytes)– ये वृक्ष, झाड़ियाँ या आरोही पौधे होते हैं जिनमें वृद्धि करती हुई कलिकाएँ (buds) सीधी शाखाओं (shoots) पर भूमि से काफी ऊँची स्थित होती हैं जिन्हें बहुत कम सुरक्षा प्राप्त होती है। अधिकतर ये कलिकाएँ अधिकतर ट्रोपीकल (tropical) पादपों में पाई जाती हैं।

फेनेरोफाइट्स को पुनः चार उपजीवन रूपों (sub-life forms) में बाँटा जा सकता है–

(i) मेगाफेनेरोफाइट्स (Megaphanerophytes)– इसमें 30 मीटर या अधिक लम्बे वृक्ष सम्मिलित हैं।

(ii) मीजोफेनेरोफाइट्स (Mesophanerophytes)– इसमें 8 से 30 मीटर तक की ऊँचाई वाले वृक्षों को सम्मिलित किया गया है।

(iii) माइक्रोफेनेरोफाइट्स (Microphanerophytes)– इसमें 2 से 8 मीटर ऊँचे वृक्षों को सम्मिलित किया गया है।

(iv) नेनोफेनेरोफाइट्स (Nanophanerophytes)– इसमें 2 से कम ऊँचाई वाली झाड़ियों (shrubs) को सम्मिलित किया गया है।

(2) केमीफाइट्स (Chamaephytes)– मुख्यतः यह पौधे पहाड़ी स्थानों के ठण्डे भागों में पाये जाते हैं जिनमें कलिकाएँ भूमि–सतह के समीप या 25 सेमी ऊँची स्थित होती हैं, ट्राइफोलियम रेपेन्स *(Trifolium repens)* एवं बुकली डेक्टीलॉयडिस *(Buchloe dactyloides)* आदि जो टेम्परेट (temperate) अमेरिका में पाये जाते हैं। कभी–कभी केमीफाइट्स पौधों की अन्य शाखाएँ शरद ऋतु में मृत हो जाती हैं जो चिरकालिक कलिकाओं (perennating buds) को ढक लेती हैं तथा सुरक्षित रखती हैं जिसके फलस्वरूप प्रत्येक बसन्त (spring) में इन कलिकाओं से कायिक वृद्धि होती है।

(3) हेमीक्रिप्टोफाइट्स (Hemicryptophytes)– पादप जातियों का यह समूह प्रमुख रूप से ठण्डी जलवायु वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनकी चिरकालिक कलिकाएँ मिट्टी के

अन्दर दबी हुई सुरक्षित रहती हैं। यह पौधे प्रायः द्विवर्षीय अथवा बहुवर्षीय शाक होते हैं जिनकी कायिक वृद्धि एवं वायवीय भाग गर्म मौसम में अधिक विकसित होते हैं। कलिकाएँ मिट्टी की सतह पर उपस्थित होती हैं जो मृत पत्तियों एवं शाखाओं से ढकी रहती हैं। अतः सुरक्षित रहती हैं।

(4) क्रिप्टोफाइट्स (Cryptophytes)– इन्हें जियोफाइट्स (Geophytes) भी कहते हैं। इनके जीवन रूपों (life forms) में कलिकाएँ मिट्टी के अन्दर दबी रहती हैं, जैसे बल्ब (Bulb) तथा राइजोम (Rhizome) आदि। यह प्रतिकूल वातावरण के लिए अनुकूलित होते हैं और इनके अंगों में भोजन संचित रहता है।

(5) थेरोफाइट्स (Therophytes)– यह प्रतिकूल वातावरण में बीजों के रूप में जीवित रहते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में यह पादप पुष्पन करते हैं तथा बीज उत्पन्न करते हैं। यह प्रायः एकवर्षीय होते हैं जो शुष्क, गर्म या ठण्डे स्थानों पर उगते हैं।

प्रश्न–16. IVI का क्या अर्थ है? संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

उत्तर– इम्पोर्टेन्स वेल्यू इण्डेक्स (IVI)– एक पादप समुदाय की संरचना में हरेक आवृत्ति, घनत्व, बाहुल्यता तथा कवर का मात्रात्मक मान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, परन्तु किसी भी एक के द्वारा उनका पारिस्थितिक महत्व प्रदर्शित नहीं होता है। उदाहरण के लिए आवृत्ति द्वारा किसी क्षेत्र में किसी जाति के वितरण के प्रकार का ज्ञान होता है, किन्तु हमको उस जाति की संख्या अथवा कितने क्षेत्र में वह जाति उपस्थित है, का अनुमान नहीं हो पाता है। इसी प्रकार से घनत्व से संख्यात्मक बल का पता चलता है, किन्तु वह जाति कितनी फैली हुई है, का ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः समुदाय संरचना के पारिस्थितिक महत्व को समझने के लिए आपेक्षिक आवृत्ति, आपेक्षिक घनत्व तथा आपेक्षिक बाहुल्यता के प्रतिशत मान को साथ जोड़ दिया जाता है और 300 में से इस मान को उस जाति का इम्पोर्टेन्स वेल्यू इण्डेक्स (Importance Value Index of IVI) कहा जाता है। इसके द्वारा विभिन्न वातावरणीय कारकों के अन्तर्गत वानस्पतिक संरचना का अध्ययन किया जाता है और IVI पादप समुदाय में जाति की सामाजिक संरचना को सम्पूर्ण चित्र प्रदर्शित करता है, किन्तु यह आपेक्षिक आवृत्ति, घनत्व तथा बाहुल्यता से सम्बन्ध नहीं रखता है। किसी समुदाय में एक जाति या संयुक्त रूप से जाति का स्थान फाइटोग्राफ्स द्वारा दर्शाया जा सकता है। IVI के सम्पूर्ण चित्र को प्रदर्शित करने के लिए फाइटोग्राफ विधि अपनाई जाती है।

प्रश्न–17. अनुक्रमण से आप क्या समझते हो? ये कितने प्रकार का होता है?

[जीवाजी 2005,14,18 भोपाल 05,15 सागर 07]

उत्तर– अनुक्रमण (Succession)– समुदाय समय एवं स्थान के अनुसार नियमित रूप से बदलते रहते हैं अतः समुदायं कभी स्थिर नहीं होते हैं। समय के साथ समुदाय में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। साथ ही समुदाय में प्रभावशील परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जिनका समय के साथ उसी स्थान पर उनका विस्थापन दूसरे समुदाय द्वारा हो जाता है। यह प्रक्रम लगातार चलता रहता है। जब तक कि कुछ समय के लिये अंतिम समुदाय पुनः लगभग स्थायी नहीं हो जाता है। अतः समुदायों के साधारण क्रमबद्ध परिवर्तन अनुक्रमण कहलाते हैं।

अनुक्रमण के प्रकार (Kinds of Succession)– पादप अनुक्रमण का अध्ययन सर्वप्रथम किंग (king, 1685) ने किया। इसके पश्चात् क्लीमेन्ट्स ने इसके नियमों एवं सिद्धान्तों के आधार पर इसे निम्न प्रकार वर्गीकृत किया–

1. **प्राथमिक अनुक्रमण (Primary Succession)**– इस प्रकार के अनुक्रमण का प्रारम्भ अनावृत चट्टान (bare rock) से होता है। यह चट्टान जैविक दृष्टि से बंजर होती है। अतः अनुक्रमण बहुत धीमी गति से होता है।
2. **द्वितीयक अनुक्रमण (Secondary succession)**– ऐसी चट्टानों जिन पर पहले वनस्पति उग कर नष्ट हो गई हो। द्वितीयक चट्टानें कहलाती हैं। अतः ये चट्टाने प्राथमिक चट्टानों की अपेक्षा उर्वर (fertile) होती हैं जिन पर पौधे उग सकते हैं।
3. **स्वयं पोषी अनुक्रमण (Autotrophic succession)**– यह अनुक्रमण ऐसे स्थानों से प्रारम्भ होता है जहाँ पर अकार्बनिक पदार्थ कार्बनिक पदार्थों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। अतः इन स्थानों पर हरे पौधें भारी संख्या में उगते हैं।
4. **परपोषी अनुक्रमण (Heterotrophic succession)**– इस प्रकार का अनुक्रमण मृत पादपों, मृत जन्तुओं तथा गोबर आदि पर विकसित होता है, क्योंकि ऐसे स्थानों पर कार्बनिक पदार्थ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं जिन पर सूक्ष्म जीव एक्टीनोमाइसिटीज, जीवाणु तथा कवक उगते हैं।
5. **रिट्रोग्रेसिव अनुक्रमण (Retrogressive succession)**– कभी–कभी चर्म सीमा (Climax) वनस्पति नष्ट हो जाती है तथा समुदाय द्वारा विस्थापित हो जाती है, जो जीवों के विनाशकारी प्रभाव से उत्पन्न प्रारम्भिक अनुक्रमण की अवस्था होती है। कभी–कभी बाधक समुदायों का विकास न हो पाने से अनुक्रमण की प्रविधि उन्नतशील होने के स्थान पर अवनतिशील (Retrogressvie) हो जाती है। जैसे वन झाड़ीदार घास मैदान समुदाय में परिवर्तित हो सकते हैं।
6. **सूक्ष्म प्रक्रम या माइक्रोसियर (Serrule or Microsere)**– इसका अर्थ सूक्ष्मजीवियों जैसे– कवक, जीवाणु, एक्टिनोमाइसिटीज आदि लघुरूप अनुक्रमण से होता है। जो प्रायः सूक्ष्म आवास जैसे घिरे हुये लकड़ी के लट्ठे, सड़ने वाली काष्ठ, वृक्षों की छाल आदि में पाया जाता है। सूक्ष्म प्रक्रम प्रकृति में परपोषी होता है।
7. **स्वगत अनुक्रमण (Autogenic succession)**– पौधे अपने आवास में अनुकूलन वृद्धि हेतु परिवर्तन करते हैं, परन्तु यह देखा जाता है कि पौधों द्वारा यह परिवर्तन उनकी अनुकूलता से बहुत अधिक हो जाता है तब ऐसी स्थिति में इस प्रकार के विकसित आवास में नये पौधे विकसित होने लगते हैं।
8. **विचलित अनुक्रमण (Deflected succession)**– इस प्रकार के अनुक्रमण में वनस्पतियाँ परस्पर परिवर्तन प्रदर्शित करती हैं, जैसे UVWXYZ वनस्पतियों के स्थान पर UVV', WXYZ प्रकार की वनस्पतियों का उत्पन्न होना।
9. **प्रेरित अनुक्रमण (Induced Succession)**– यह देखा गया है कि चरम सीमा समुदाय के पौधों की उत्पादकता प्रारम्भिक पादप समुदायों की तुलना में कम हो जाती है। अतः मनुष्य ने अपनी इच्छानुसार कार्बनिक पदार्थों को प्राप्त करने के लिये इसे प्रेरित किया है।

प्रश्न–18. पादप अनुक्रमण क्या है? एक झील में पादप अनुक्रमण किस प्रकार होता है? उचित उदाहरण एवं चित्रों की सहायता से विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिये। **[सागर 2008]**

अथवा

पादप अनुक्रमण क्या है? जल क्रमण (hydrosere) या मरुक्रमण (Xerosere) की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिये। **[जीवाजी 2006,18 सागर 06]**

अथवा

जलक्रमण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006,14,18]

उत्तर– पादप अनुक्रमण (Plant Succession)– जब कोई विशेष पादप क्रमशः अनेक पादप समुदायों द्वारा परिवर्तित होकर अपनी चरम अवस्था (Climax stage) को प्राप्त कर लेता है तो इस प्रक्रम को पादप अनुक्रमण (Plant succession) कहते हैं।

अनुक्रमण के कारण (Causes of Succession)

1. **प्रवास (Migration)**– जब कोई बीज या बीजाणु अपने मूल स्थान को छोड़कर अन्य नये स्थान पर जाता है तथा अनुकूल दशाओं को प्राप्त कर अंकुरण करता है। तब इस क्रिया को प्रवास (Migration) कहते हैं। प्रवास की क्रिया को अनेक कारक प्रभावित करते हैं।
2. **नग्नीकरण (Nudation)**– किसी स्थान के वनस्पतिविहीन होने की क्रिया को नग्नीकरण कहते हैं। यह क्रिया जल, वायु, गुरूत्वाकर्षण, तूफान, बर्फ, ज्वालामुखी, शुष्कता आदि पर्यावरणीय एवं जैवीय कारकों के द्वारा सम्पन्न होती हैं।
3. **समूहन (Aggregation)**– इस क्रिया के अन्तर्गत किसी क्षेत्र में अनेक जातियाँ उग कर समूह का निर्माण करती हैं।
4. **आस्थापना (Ecesis)**– इस प्रक्रम में नये पौधों की स्थापना होती है। इस क्रिया में अंकुरण, वृद्धि, प्रजनन होता है तथा इसके बाद बीज या बीजाणुओं का निर्माण होता है, जो अंकुरित होकर आस्थापना प्रक्रम में योगदान करते हैं।
5. **समुदायिक सम्बन्ध (Community relationship)**– अनुक्रमण के दौरान किसी क्षेत्र में पादपों की अनेक जातियों की संख्या बढ़ जाती हैं। इस कारण, उनमें निम्न सम्बन्ध स्थापित होते हैं–

(i) पारस्परिकता (Mutualism)– इस प्रक्रम के दौरान दो जीव साथ–साथ रहते हैं तथा एक–दूसरे को लाभ पहुँचाते हैं।

(ii) शोषण (Exploitation)– इस प्रक्रम में एक जाति दूसरी जाति पर आश्रित रहती है तथा उसका शोषण करती है।

(iii) सह–अस्तित्व (Co-existence)– किसी क्षेत्र में अनेक जातियाँ साथ–साथ रहती हैं। लेकिन अस्तित्व के कारण उनमें प्रतियोगिता होती रहती है।

6. **प्रतिक्रिया (Reaction)**– किसी क्षेत्र विशेष में अनेक जातियों के रहने से आवास में परिवर्तन आने लगते हैं। पौधों की जातियों एवं जन्तुओं के मृत होने पर वहां पर ह्यूमस की मात्रा में वृद्धि होती रहती है, तथा उगने वाली पादप जातियों में प्रतिक्रिया होती है। इससे आवास में परिवर्तन होने लगता है। इससे नये उगने वाले पौधों को अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध हो जाती हैं।

जलक्रमण (Hydrosere)– जलक्रमण या हाइड्रोसियर सामान्यतः जलाशय से आरम्भ होता है। इसमें निम्नलिखित अवस्थायें होती हैं।

1. **निमग्न अवस्था (Sub merged stage)**– जब जलाशय की गहराई 15–20 फुट होती है तब इसमें अनेक प्रकार के जल निमग्न पौधे वेलिस्नेरिया, हाइड्रिला, युट्रीकुलेरिया आदि पाये जाते हैं। इनके साथ ही कुछ शैवाल (Algae), जैसे कारा (Chara) आदि पाये जाते हैं। ये पानी में ही वृद्धि करते हैं। इनकी मृत्यु के बाद ही कीचड़ का निर्माण होता है जिससे पानी की गहराई कम होने लगती हैं तथा जिससे अन्य पौधे उगना आरम्भ कर देते हैं।

2. **प्लावन अवस्था (Floating stage)**– तालाब या जलाशय की गहराई के कम होने पर अनेक प्लावी या तैरने वाले पौधे पिस्टिया (Pistia), निम्फिया (Nymphia), जलकुम्भी (Eichhomia) आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जब ये पौधे अधिकता से उगते हैं तो इनको प्रकाश उपलब्ध नहीं हो पाता है। इस प्रकार ये समाप्त होने लगते हैं। इन पौधों का अधिकांश भाग वायवीय प्रकृति का होता है जो पानी को उड़ाता रहता है जिससे पानी उथला होने लगता है और तालाब उथली भूमि को धारण कर लेता है।
3. **रीड स्वेम्प अवस्था (Read swamp stage)**– जलाशय के उथले होने के कारण पानी की गहराई 3–4 फीट रह जाती हैं। जिससे सेजीटेरिया (Sagittaria), टाइफा (Typha), रयूमेक्स (Rumex) आदि पौधे उत्पन्न हो जाते हैं और तालाब और भी अधिक उथला हो जाता है।
4. **सेज मीडो अवस्था (Sedge meadow stage)**– उपरोक्त अवस्थाओं के कारण तालाब का वातावरण दलदली हो जाता है। इसमें पोदीना (Mint), सेज (Sedge) तथा अन्य प्रकार की घास उग जाती है। इनके लगातार वाष्पोत्सर्जन होने से भूमि शुष्क होने लगती है।
5. **वनभूमि अवस्था (Wood land stage)**– सेज मीडो अवस्था के उपरान्त शुष्क भूमि का निर्माण हो जाता है। जिसमें झड़ियाँ आदि उगने लगती हैं। और अन्त में बड़े–बड़े वृक्ष उग आते हैं। इसी के पश्चात् चरम सीमा (Climax stage) आ जाती है और इस प्रकार जलाशय के स्थान पर वन (forest) का निर्माण हो जाता है।

प्रश्न–19. पारिस्थितिक अनुक्रमण होने के कारण क्या होते हैं? संक्षेप में समझाइये।

उत्तर– पारिस्थितिक अनुक्रमण के कारण– अनुक्रमण जटिल प्रक्रमों (complex processes) की सीरीज (series) होता है। यह मुख्यतः अनुक्रमण के कई कारण होते हैं जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) प्रारम्भिक समारम्भन कारण (Initial or initiating causes)– यह कारण जलवायु सम्बन्धी (climatic) तथा जैवीय (biotic) कारकों का मिश्रण होता है। जलवायवीय कारण में अनेक कारकों जैसे अपरदन (erosion) तथा जमाव (deposits), हवा (wind), अग्नि (fire) आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। जैविक कारकों के अन्तर्गत जीवधारियों को विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है।

(2) आस्थापन या निरन्तर कारण (Ecesis or continuing causes)– कई विधियाँ जैसे प्रवास (migration), आस्थापन (ecesis), सामूहन (aggregation), प्रतिस्पर्धा (competition), प्रक्रियाएँ (reactions) आदि जिनके द्वारा समष्टि की उत्तरोत्तर (successive) तरंगें परिवर्तन के फलस्वरूप बनती हैं। विशेष रूप से यह क्षेत्र, मृदीय गुणों वाला होता है।

(3) स्थायीकारी कारण (Stabilising causes)– इस कारण से समुदाय को स्थायीकरण (stabilisation) प्राप्त होता है। क्लीमेण्ट (Clements) के अनुसार उस क्षेत्र की जलवायु स्थायीकरण (Stabilisation) का मुख्य कारण होती है। अन्य कारक द्वितीयक मूल्य के होते हैं।

प्रश्न–20. मरुदभिद् अनुक्रमण का वर्णन कीजिये। [जीवाजी 2008,10 इन्दौर 15,18]

अथवा

नग्न चट्टान पर होने वाले पादप अनुक्रमण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [रीवा 2007,09]

अथवा

शुष्क संचक (Xerosere) की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिये। [जीवाजी 2006]

अथवा

नग्न चट्टानों पर होने वाली पादप अनुक्रमण की क्रिया का वर्णन कीजिये।

उत्तर– मरुक्रमण (Xerosere)– मरुक्रमण प्रायः चट्टानों या नग्न क्षेत्रों से प्रारम्भ होता है। इसमें निम्नलिखित अवस्थायें पायी जाती हैं–

1. **क्रस्टोज लाइकेन अवस्था (Crustose lichen stage)–** सामान्यतः नंगी चट्टानों पर पेड़ पौधे उगने में असमर्थ होते हैं। अतएव केवल क्रस्टोज लाइकेन जैसे लेकनोरा (Lecnora), रेनोडिना (Rinodina) लेसीडिया (Lecidea) आदि पपड़ी के रूप में उगते हैं। ये अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। लाइकन की मृत्यु के पश्चात् चट्टानों पर कार्बनिक पदार्थ ह्यूमस एकत्रित होने लगता है। इस पर ही अन्य पौधे उग आते हैं।
2. **फोलिओज लाइकेन अवस्था (Foliose lichen stage)–** क्रस्टोज अवस्था के बाद चट्टानों में फोलिओज लाइकेन जैसे पार्मेलिया (Parmalia), डरमेटोकारपॉन उगते हैं। इनका पादप शरीर बड़ी पत्ती के समान होता है। इनकी मिट्टी से अधिक मात्रा में ह्यूमस व कार्बनिक पदार्थ बनता है। ये मॉस के अंकुरण में सहायक है।
3. **मॉस अवस्था (Moss stage)–** चट्टानों पर ह्यूमस व कार्बनिक पदार्थों के बन जाने के बाद मरुस्थलीय मॉस जैसे– पोलीट्राइकम आदि उग आते हैं। इनके मूलांग चट्टानों में प्रवेश कर मिट्टी के कणों को बनाते हैं।
4. **शाकीय अवस्था (Herbaceous stage)–** उपरोक्त अवस्थाओं के बन चुकने के पश्चात् चट्टानों पर शाक उगने के लिये अनुकूल वातावरण बन जाता है। अतएव इसमें फिस्टुका (Fistuca), एरिस्टिडा (Aristida) आदि शाकीय पौधे उग आते हैं। जिनकी जड़े चट्टानों में प्रवेश कर मिट्टी में बदल जाती हैं।
5. **झाड़ी अवस्था (Shrub stage)–** अनेक शाकीय पौधों के साथ–साथ कुछ झाड़ीदार पौधे जैसे पॉलीकारपस आदि इस पर उग आते हैं जिनकी जड़े काफी मजबूत होती हैं।
6. **चरम अवस्था (Climax stage)–** इस प्रकार बनी मरुस्थलीय परिस्थितियों में केवल बड़े वृक्ष ओक (Oak) आदि उग आते हैं और इस प्रकार धीरे–धीरे वन का निर्माण हो जाता है।

प्रश्न–21. जैविक स्पेक्ट्रम पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006,07,10,15 सागर 2006,10]

अथवा

जैविक स्पेक्ट्रम क्या है? वर्णन कीजिये। [इन्दौर 2005,14]

उत्तर– जैविक स्पेक्ट्रम (Biological Specturm)– एक पादप जात (Flora) के विभिन्न जीवन रूपों में जातियों का प्रतिशत वितरण जैविक या फाइटोक्लाइमेटिक स्पेक्ट्रम कहलाता है। रोनकियर ने सम्पूर्ण विश्व के पादप जात में प्रत्येक जीवन रूप के अनुपात को निर्धारित किया और वर्गों को इस प्रकार विन्यस्त किया जो स्पेक्ट्रम के रंगों के विन्यास के समरूप था जिसे उन्होंने सामान्य जैविक स्पेक्ट्रम कहा।

प्रत्येक सामान्य जैविक स्पेक्ट्रम में प्रत्येक जीवन रूप का प्रतिशत मान निम्न है–

फेनेरोफाइट्स = 46%
कीमोफाइट्स = 9%

हेमीक्रिप्टोफाइट्स = 26%
क्रिप्टोफाइट्स = 6%
थेरोफाइट्स = 13%

इस जैविक स्पेक्ट्रम का उपयोग विश्व के विभिन्न भागों में पादप जलवायु की तुलना करने के लिये किया जाता है। इससे किसी क्षेत्र के जैविक स्पेक्ट्रा की तुलना रोनकियर के सामान्य स्पेक्ट्रम द्वारा की जाती है।

$$\text{जीवन रूपों का प्रतिशत} = \frac{\text{किसी जीवन रूप में जातियों की संख्या}}{\text{सभी जीवन रूपों की जातियों की कुल संख्या}} \times 100$$

संसार के विभिन्न पादप भूगोलीय क्षेत्रों के जीवन रूपों के स्पेक्ट्रा जलवायुवीय विशेषताओं की प्रत्यक्ष छाप को प्रस्तुत करता है। कुछ जीवन रूप ऐसे प्रदेशों में पाये जाते हैं जिनकी पर्यावरणीय दशायें समान होती हैं। वे जैविक स्पेक्ट्रा जो प्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण के निर्देशक होते है वे पादप जलवायवीय या फाइटोक्लाइमेटिक स्पेक्ट्रा कहलाते हैं।

(1) गर्म तथा नम जलवायु (Warm and moist climate)– फेनेरोफाइट्स
(2) गर्म तथा शुष्क जलवायु (Warm and dry climate)– क्रिप्टोफाइट्स
(3) गर्म या ठण्डी तथा शुष्क जलवायु (Hot or cold and dry climate)– थेरोफाइट्स
(4) ठण्डी जलवायु (Cold climate)– हेमीक्रिप्टोफाइट्स।
(5) बहुत अधिक ठण्डी जलवायु (Extremely cold climate)– केमीफाइट्स।

प्रश्न–22. ज़ीरोसीयर पर टिप्पणी लिखिये।

अथवा

मरुक्रमण का वर्णन कीजिये। [उज्जैन 2015]

अथवा

नग्न चट्टान पर होने वाले पादप अनुक्रमण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अथवा

मरुक्रमकों की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिये।

उत्तर– शैलक्रमक अथवा चट्टान पर एक मरुक्रमक– जब अनुक्रमण एक अनावृत क्षेत्र से प्रारम्भ होता है, जहाँ मिट्टी से नमी की अत्यधिक कमी होती है उसे मरुक्रमक कहा जाता है। ये अनावृत क्षेत्र चट्टानें कड़ी पर्त वाले क्षेत्र एवं बालू के मरुस्थल आदि होते हैं।

वह मरुक्रमक जो नग्न चट्टान से प्रारम्भ होता है, जहाँ जल तथा कार्बनिक पदार्थों की कमी होती है परन्तु अकार्बनिक पदार्थ प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं उसे शैलक्रमक कहा जाता है। यह लाइकेन्स अवस्था से प्रारम्भ होकर अनेक अवस्थाओं के बाद वन पर समाप्त होता है जो चरम समुदाय बनाता है। मरुक्रमण में निम्नलिखित अवस्थायें देखने को मिलती हैं–

(1) **क्रस्टोज लाइकेन अवस्था–** यह प्रथम अवस्था होती है जहाँ नंगी चट्टानों पर पौधों का उगना सम्भव नहीं होता है। अतः इन पर केवल क्रस्टोज लाइकेन, जैसे– लेकेनोरा, लेसीडिया, रेनोडिना आदि पपड़ी बनाते हुये उगते हैं जो अपना भोजन आदि का स्वयं प्रबन्ध करते हैं। इन लाइकेन की मृत्यु के फलस्वरूप चट्टानों पर कार्बनिक पदार्थ तथा ह्यूमस एकत्रित होने लगते हैं जिससे अन्य पौधे उगने लगते हैं।

(2) **फॉलियोज लाइकेन अवस्था–** इस अवस्था में चट्टानों पर फॉलियोज लाइकेन्स, जैसे– पार्मेलिया, डर्मेटोकारपोन आदि उत्पन्न होने लगते हैं जिनका पादप शरीर बड़ी

पत्तियों की तरह होता है, इनकी मृत्यु से अधिक ह्यूमस तथा कार्बनिक पदार्थ बनता है जो मॉस अवस्था के पौधों के अंकुरण में सहायक होता है।

(3) **मॉस अवस्था–** इस तृतीय अवस्था में चट्टानों पर ह्यूमस तथा कार्बनिक पदार्थों के बन जाने से मरुस्थलीय मॉस, जैसे– ग्रीमिया, टोरुला, पोलीट्राइकम आदि की जातियाँ उगने लगती हैं जिनके मूलांग चट्टानों में धीरे–धीरे प्रवेश करके छोटे–छोटे मिट्टी के कणों का निर्माण करते हैं।

(4) **शाक अवस्था–** उपर्युक्त अवस्थाओं के फलस्वरूप चट्टानों पर शाकों के उगने के लिये उपयुक्त वातावरण बन जाता है। अतः फिस्टुका, एरिस्टिडा आदि शाकीय पौधे उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी जड़ें चट्टानों में प्रवेश करके उन्हें मिट्टी के कणों में बदल देती हैं।

(5) **झाड़ी अवस्था–** झाड़ी अवस्था में अनेक शाकीय पौधों के साथ साथ कुछ झाड़ीदार पौधे, जैसे– पोलीकार्पस आदि उगने लगते हैं जिनकी जड़ें अधिक मजबूत होती हैं और चट्टानों को धीरे–धीरे भूमि में परिवर्तित कर देती हैं।

(6) **चरम अवस्था–** यह चरम अवस्था होती है जिसमें मरुस्थलीय परिस्थितियों में केवल बड़े वृक्ष जैसे ओक आदि उत्पन्न होते हैं और एक वन बन जाता है। वृक्षों की लम्बाई के कारण झाड़ियाँ समाप्त होने लगती हैं। नम शीतोष्ण क्षेत्र में कोनीफर्स, ओक तथा मेपिल के वृक्ष पाये जाते हैं तथा उष्ण शुष्क क्षेत्रों में प्रोसोपिस तथा बबूल आदि के वृक्ष उगते हुये पाये जाते हैं।

इकाई–2

लघु एवं दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. मानव ने अभी तक कौन–कौन से प्राकृतिक तत्वों को संसाधन बनाया है?

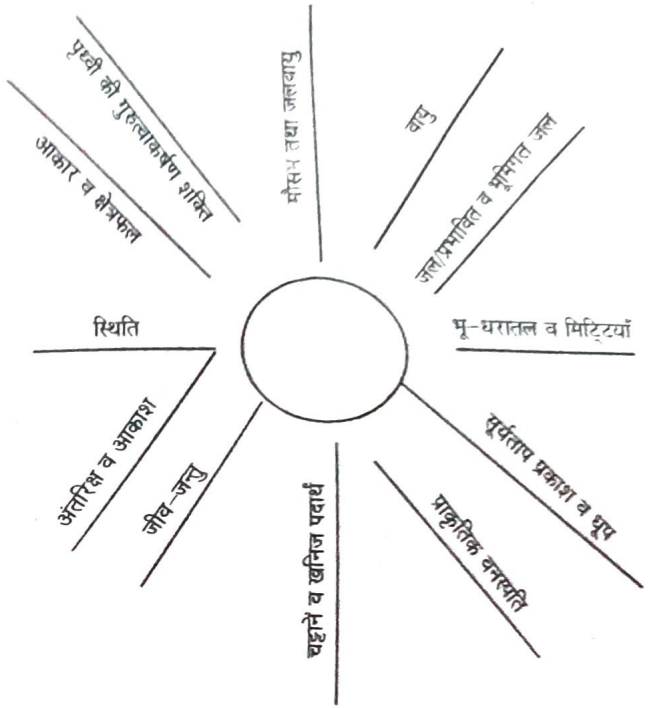
उत्तर– मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में प्राकृतिक तत्वों का उपयोग करता है, ये प्राकृतिक पदार्थ उस सीमा तक संसाधन बनते हैं। मनुष्य ने निम्नलिखित प्राकृतिक तत्वों को संसाधन बनाया–

(1) **हवा या वायु–** पृथ्वी पर सभी जीवधारियों को जीने के लिये वायु का विशेष महत्व है। वायु में अनेक प्रकार की गैसें– ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड आदि विद्यमान रहती हैं।

(2) **जल–** मानव–जीवन के अस्तित्व के लिये हवा के बाद दूसरा आवश्यक प्राकृतिक तत्व है जल इसके अभाव में पृथ्वी पर जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पृथ्वी पर जल तरल, ठोस व वाष्प तीनों रूपों में विद्यमान है। इसका उपयोग मनुष्य विभिन्न कार्यों में करता है।

(3) **सूर्य का प्रकाश व धूप–** सूर्य प्रकाश व उसमें निहित ऊर्जा मानव–जीवन के लिये उपयोगी प्राकृतिक संसाधन है। सूर्यताप पृथ्वी पर समस्त जीवधारियों के संचालन में शक्ति का कार्य करता है। आज इससे सौर ऊर्जा का विकास कर लिया गया है और इससे रेलगाड़ियाँ व मोटर वाहन भी चलाये जाते हैं।

(4) **भूमि व धरातल–** धरातल तो सभी प्राकृतिक तथा मानवीय संसाधनों के लिये आधार प्रदान करता है। मनुष्य खेती, पशुचारण, परिवहन, उद्योग, व्यापार, वाणिज्य आदि समस्त आर्थिक क्रियायें भू–धरातल पर ही सम्पादित करता है। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी क्रियाकलाप धरातल पर ही करता है।



चित्र– प्राकृतिक संसाधन

(5) **मिट्टी–** मिट्टी आधारभूत प्राकृतिक संसाधन है। इस पर मनुष्य कृषि करके खाद्यान्न उत्पादन करता है। अनेक औद्योगिक कच्चे माल भी कृषि द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

(6) **प्राकृतिक वनस्पति–** वृक्षों, घासों व झाड़ियों का सम्मिलित रूप प्राकृतिक वनस्पति है। यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मानव के लिये अत्यन्त उपयोगी प्राकृतिक संसाधन है। मनुष्य वनस्पतियों का उपयोग भोज्य पदार्थों, कच्चे मालों व ऊर्जा प्राप्त करने में करता है।

(7) **खनिज पदार्थ–** प्राकृतिक संसाधनों में खनिज सबसे मूल्यवान है। आज मनुष्य का सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक विकास विभिन्न प्रकार की मशीनों पर टिका है। इन मशीनों के निर्माण में लोहा, तांबा, एल्युमिनियम, टिन, सीसा, जस्ता, अभ्रक, मैंगनीज, चूना पत्थर, जिप्सम, पेट्रोलियम, कोयला, प्राकृतिक गैस, यूरेनियम, थोरियम आदि खनिजों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(8) **जीव–जन्तु–** जीव–जन्तुओं से हमें कई प्रकार के उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसलिये जीव–जन्तु महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन हैं। वन्य–जीवों का प्रयोग मनुष्य प्राचीन काल से करता आया है तथा वर्तमान में भी जीव–जन्तु मनुष्य के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

(9) **गुरुत्वाकर्षण शक्ति–** पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति के कारण पृथ्वी धरातल पर सभी वस्तुयें अपना संतुलन बनाये हुये अपनी जगह पर खड़ी हैं और मनुष्य उनसे उपयोगिता प्राप्त कर रहा है।

(10) अंतरिक्ष व आकाश– मानव के लिये अंतरिक्ष का बहुत उपयोग है। वह वायुयानों की उड़ानें अंतरिक्ष व आकाश में ही करता है। दूरसंचार व उपग्रह संदेश प्रेषण में अंतरिक्ष की विद्यमानता की विशेष भूमिका है।

प्रश्न–2. भूमि संसाधन से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर– भूमि संसाधन– भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है। इसमें सृजन तथा पोषण की सामर्थ्य है तथा यह सभी जीवों को अस्तित्व प्रदान करती है। इसी लिये इसे भूमि माता कहा जाता है।

(1) प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एस. के रुद्रा के अनुसार, 'भूमि एक मुख्य संसाधन है जो प्रकृति की निःशुल्क देन है।'

(2) प्रो. स्मिथ और पेटरसन के अनुसार, 'प्रकृति की कोई भी भेंट जिसे हम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये प्रयोग में लाते हैं वह प्राकृतिक साधन या भूमि है।'

भूमि को संसाधन मानने के कई कारण हैं, जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) **मानव की निवास स्थली–** भूमि मानव का निवास स्थान है। मानव अनादि काल से भूमि पर ही जन्म लेता है, पलता है तथा भूमि से प्राप्त भोज्य–पदार्थों से जीवन चलाता है।

(2) **भूमि भोजन प्रदान करती है–** भूमि मानव तथा अनेक जीव–जन्तुओं को पोषण हेतु आहार प्रदान करती है। यही आहार शारीरिक ऊर्जा का आधार है, जिससे सभी शारीरिक कार्य संचालित होते हैं।

(3) **मानवीय क्रियाओं का आधार–** भूमि सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं का आधार है। समस्त मानवीय क्रियायें भूमि पर ही घटित होती हैं।

(4) **भूमि से समस्त कच्चे माल की प्राप्ति होती है–** उत्पादन प्रक्रिया के लिये आवश्यक कच्चा माल भूमि से ही प्राप्त होता है। कच्चे माल की पूर्ति पर औद्योगिक विकास निर्भर करता है।

(5) **भूमि पर परिवर्तन का प्रभाव मानव–जीवन पर पड़ता है–** भूमि की धरातलीय संरचना पर कई घटनायें जैसे भूकम्प, बाढ़, अकाल, ज्वालामुखी विस्फोट, भूस्खलन इत्यादि होती हैं। ये घटनायें पृथ्वी के जिस भाग में घटित होती हैं, उस क्षेत्र के मानवीय जीवन और अर्थव्यवस्था पर इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(6) **केवल भूमि ही उत्पादन कर सकती है–** प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार, 'केवल भूमि ही एक मात्र ऐसा संसाधन है, जिसमें उत्पादन करने की शक्ति है। मनुष्य तो भूमि द्वारा उत्पादित वस्तुओं का रूप परिवर्तन कर अपने लिये उसे उपयोगी बनाता है।' इसलिये हम कह सकते हैं कि उत्पादन करने की शक्ति सिर्फ भूमि में ही है।

प्रश्न–3. मृदा निर्माण (Soil formation) पर टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006,14]

उत्तर– मृदा का निर्माण (Soil formation)– मृदा का निर्माण चट्टानों के जल, वायु, पाला, ताप के अपक्षय के कारण होता है। तापमान के घटने बढ़ने से क्रमशः चट्टाने सिकुड़ती फैलती हैं। ऐसा होने से उनमें दरारें उत्पन्न हो जाती हैं। वर्षा के दबाब तथा तेज हवा के चलने से इन दरारों से चट्टाने टूट कर गिर जाती हैं। जब चट्टानों के ऊपर से तीव्रता से जल बहता है तो घर्षण के कारण पत्थर आपस में घिसते रहते हैं। इससे बालू का निर्माण होता है।

मृदा के निर्माण के दौरान उपरोक्त भौतिक अपक्षय की क्रिया के अलावा रासायनिक अपक्षय भी होता है। मिट्टी के कण, जल एवं कार्बन डाईऑक्साइड को अपने में घोलकर कार्बनिक अम्ल का निर्माण करता है। इसके रासायनिक प्रभाव से मृदा छोटे कणों में विभक्त हो जाती है। जीवधारियों के मृत शरीरों से ह्यूमस (Humus) का निर्माण होता है। ह्यूमस वस्तुतः पेड पौधों व जन्तुओं के शरीर के विघटित अवशेष है। यह मृदा की उर्वरा शक्ति एवं उसके जल संक्षारण शक्ति को बढ़ाने के लिये उत्तरदायी होता है।

इसके अलावा लाइकेन, जीवाणु, कवक, ब्रायोफाइट्स चट्टानों के अपक्षय में सहायता करते हैं। उपरोक्त सभी विधियों से बनी मिट्टी जल या वायु के प्रवाह से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती हैं। इसे वाहित मृदा कहते हैं। इसके विपरीत वह मृदा जो किसी कारणवश उसी स्थान पर जमी रहती है। उसे अपविष्ट मृदा (Residual soil) कहते है।

प्रश्न–4. विभिन्न प्रकार की मृदाओं के भौतिक एवं रासायनिक गुणों का वर्णन कीजिये।

[सागर 2006,08,12,14]

उत्तर– मृदा के भौतिक गुण– मृदा के भौतिक गुण निम्नांकित हैं–

(1) **मृदा गठन–** मृदा में पाये जाने वाले विभिन्न आकार के कण समूहों के आपेक्षिक अनुपात को मृदा गठन कहते हैं। मृदा के विभिन्न माप के कणों के अनुपात के आधार पर मृदा गठन को अनेक प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। मृदा गठन से ही मृदा जल सम्बन्ध वायु तथा जड़ों का गहराई तक जाना इसके सम्बन्ध को प्रभावित करता है।

(2) **मृदा संरचना–** मृदा की संरचना एक महत्वपूर्ण मृदा गुण है जिसका प्रभाव मृदा के पर्यावरण, जैसे– छिद्रों का आकार, पोषण तत्वों की उपलब्धता, जलधारण की क्षमता, जीवाणुओं की वृद्धि आदि पर पड़ता है। मृदा के पर्यावरण में परिवर्तन का फसलों की जड़ों की वृद्धि और अंकुरण आदि पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

(3) **मृदा का आपेक्षिक घनत्व–** एक घन सेमी, मृदा के वजन तथा उसी आयतन के पानी के वजन के अनुपात को उस मृदा का आपेक्षिक घनत्व कहा जाता हैं।

$$\text{आपेक्षिक घनत्व} = \frac{\text{मृदा का वजन}}{\text{जल का वजन}}$$

जिन मृदाओं में कार्बनिक पदार्थ की अधिक मात्रा होती है, उनका भार कम होता है।

(4) **मृदा रन्ध्रावकाश–** मृदा कणों के बीच विद्यमान अवकाश होता है को मृदा अवकाश कहते है। मृदा अवकाश पर आधारित मृदा का वह गुण जो मृदा में वायु वातन तथा जल अवधारण का निर्धारण करता है, उसे मृदा रन्ध्रावकाश कहते हैं। मृदा में वायु और जल पर रन्ध्रावकाश प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखता है तथा अप्रत्यक्ष रूप से पौधों की वृद्धि को नियन्त्रित करता है।

(5) **मृदा ससंजन तथा मृदा आसंजन–** जल के अणुओं का एक–दूसरे की ओर आकर्षित होने को ससंजन कहा जाता है तथा जल के अणुओं का मृदा कणों की ओर आकर्षित होने को आसंजन कहा जाता है। ससंजन तथा आसंजन बल की मृदा की जलधारण क्षमता एवं मृदा जल के प्रवाह को नियन्त्रित करता है।

(6) मृदा रंग– यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण भौतिक गुण है। खनिज और जीवांश पदार्थ मृदा रंग को प्रभावित करता है। मृदा का रंग, जैसे– लाल, पीला, भूरा, मृदा में होने वाले विभिन्न आयरन ऑक्साइड के ऑक्सीकरण, जल संयोजन की स्थितियों से सम्बन्धित होता है।

(7) मृदा पारगम्यता– मृदा की वह क्षमता, जिसके द्वारा वह जल को अपने से गुजरने देती है, उसे पारगम्यता कहते हैं। पारगम्य मृदा में जल आसानी से अन्दर चला जाता है।

मृदा के रासायनिक गुण– (i) मृदा के खनिज पदार्थ (Mineral matters of soil) मिट्टी में विभिन्न प्रकार के खनिज लवण घुलित अवस्था में पाये जाते हैं। जिनका अवशोषण पौधों के जड़ो द्वारा किया जाता है। विभिन्न प्रकार के खनिज तत्वों की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मिट्टी के घुले हुये खनिज तत्व में धनावेश होता है। जैसे– कैल्सियम (Ca), पौटेशियम (K), सोडियम (Na), मैग्नीशियम (Mg), आयरन (Fe), मोलिब्डेनम (Mo), जिंक (Zn), कॉपर (Cu), हाइड्रोजन (H) तथा अमोनिया (NH_3) कुछ तत्वों में ऋण आवेश होता है। जैसे– नाइट्रेट (NO_3), नाइट्राइट (NO_2), क्लोराइड (Cl), बाइकार्बोनेट (HCO_3), सल्फेट (SO_4) तथा फॉस्फेट (PO_4) आदि।

ये सभी तत्व पौधों की जड़ों (roots) द्वारा सान्द्रता के अनुसार अवशोषित किये जाते हैं, जो पौधे की वृद्धि के लिये आवश्यक होते हैं। कभी–कभी मिट्टी में लवणों की अधिक सान्द्रता होती है। ऐसी मिट्टी में हेलोफाइट्स पौधे उगलते हैं।

द्रशो (Treshow) के अनुसार मिट्टी का एक भौतिक (Physical) तथा जैविक (Biological) तन्त्र (system) होता है, जो पौधों को अवलम्ब (Support), जल (water), ऑक्सीजन तथा पोषण तत्व (Mineral elements) प्रदान करता है। मृदा के रासायनिक गुण निम्नानुसार हैं–

(1) मृदा के अकार्बनिक पदार्थ– मृदा के मुख्य अकार्बनिक घटक सिलिका, एल्युमिनियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम, आयरन, पोटेशियम एवं सोडियम के यौगिक हैं। इसके अतिरिक्त मृदा के अन्दर कम मात्रा में दूसरे अन्य अकार्बनिक जैसे– बोरॉन, कॉपर, जिंक, कोबाल्ट, आयोडीन, फ्लोरीन के यौगिक भी पाये जाते हैं।

(2) मृदा के कार्बनिक पदार्थ– मृदा का कार्बनिक घटक जीवित अथवा मृत कार्बनिक पदार्थों से निर्मित होता है। मृदाओं की ऊपरी सतहों से भार की दृष्टि से कार्बनिक पदार्थ की मात्रा 1–6 प्रतिशत होती है।

(3) मृदा कणों की कोलाइडी प्रकृति– मृदा का कोलाइडी अंश सक्रिय तथा महत्वपूर्ण होता है। एक माइक्रोन या 0.001 मि.मि. से छोटे कण मृदा कोलाइड्स होते हैं। मृदा में दो प्रकार के कोलाइड– कार्बनिक या खनिज कोलाइड्स एवं खनिज या ह्यूमस पाये जाते हैं।

(4) मृदा अभिक्रिया– अभिक्रिया की प्रकृति के आधार पर कुछ मृदायें उदासीन, कुछ अम्लीय तथा कुछ क्षारीय होती हैं। मृदा की अम्लीयता, क्षारीयता एवं उदासीनता का मापन हाइड्रोजन आयन की सान्द्रता या पी.एच. मान से किया जाता है।

(a) अम्लीय मृदायें– वे मृदायें जिनका pH मान हमेशा 7.0 से कम रहता है, उन्हें अम्लीय मृदायें कहते हैं। इन मृदाओं का रंग गहरा होती है। इनमें जीवांश पदार्थ की अधिकता से कार्बनिक अम्ल अधिक पैदा होते हैं। मृदा में फॉस्फोरस का स्थिरीकरण अधिक होती है।

(b) क्षारीय मृदायें– इन मृदाओं की भौतिक दशा विनिमयशील सोडियम की अधिकता के कारण बहुत खराब होती है। इसे ऊसर भूमि भी कहा जाता है। इस प्रकार की मृदाओं में सोडियम की अधिकता के कारण जल पारगम्यता, पौधों का पोषण, पादप उपापचय क्रियायें कम हो जाती हैं।

प्रश्न–5. मृदा या मिट्टी के प्रकारों पर टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006]

अथवा

निम्नलिखित कारकों के आधार पर मृदा का वर्गीकरण कीजिये–

1. मृदा निर्माण **2. मृदा संरचना एवं गठन**

उत्तर– मृदा के प्रकार– मृदा पौधे की वृद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है। पौधों एवं जन्तुओं के लिये मृदा ही उनका आवास होता है। जीवधारियों को मृदा के जल एवं खनिज लवण प्राप्त होते है। भूमि की ऊपरी सतह को मृदा कहा जाता है। यह वास्तव में एक विशेष प्रकार के पर्यावरण का एक अंश है। यह चट्टानों के टूटने, फूटने ताप तथा जल, पाले के प्रभाव के कारण बालू के कण, खनिज लवण, वायु कार्बनिक पदार्थों आदि की बनी होती है। इसमें अनेक बिलकारी जीव, सूक्ष्म कीट, कवक पाये जाते हैं।

मृदा या मिट्टी के प्रकार

क्रमांक	मिट्टी के प्रकार	कणों का व्यास
1.	बजरी (Gravel)	5.00 मिमी से अधिक
2.	महीन बजरी (Fine gravel)	5.000 से 2.000 मिमी तक
3.	मोटी बालू (Coarse sand)	2.000 से 2.000 मिमी तक
4.	महीन बालू (Fine sand)	0.200 से 0.020 मिमी तक
5.	गाद (Silt)	0.020 से 0.002 मिमी तक
6.	चिकनी मिट्टी (Clay)	0.002 मिमी से कम

क्रमांक	गठन समूह	विभिन्न खनिज कणों का आपेक्षिक अनुपात
1.	बालुई मिट्टी	85% बालू +15 चिकनी अथवा गाद मिट्टी
2.	दोमट बलुई मिट्टी	70% बालू +30% चिकनी मिट्टी अथवा गाद
3.	दोमट मिट्टी	50% बालू + 50% चिकनी मिट्टी अथवा गाद
4.	गाद या सिल्ट	90% गाद + 10% बालू

मृदाओं का वर्गीकरण– किसी विशेष स्थान पर मृदा का प्रकार एवं निर्माण चार कारकों – मूल चट्टान, जलवायु एवं वर्षा, तलरूपता तथा वनस्पति एवं प्राणी से प्रभावित होता है।

1. मृदा निर्माण– मृदा निर्माण के आधार पर मृदाओं को दो श्रेणियों में बाँटा किया जा सकता है–

(a) अवशिष्ट मृदा– किसी विशिष्ट स्थान पर चट्टानों के भौतिक अपक्षय तथा रासायनिक अपक्षय से बनी मृदा को अवशिष्ट मृदा कहते हैं।

(b) वाहित मृदा– अपक्षय के पश्चात् मृदा किसी भी माध्यम द्वारा दूसरे स्थान पर ले जाई जा सकती है जहाँ उससे पैडोजेनेसिस होती है। इसे वाहित मृदा कहते हैं। वाहित मृदा निम्न चार प्रकार की होती है–

(अ) जलोढ़ मृदा– यह मृदा जल द्वारा बहकर दूसरे स्थान पर पहुँचती है।

(ब) वातोढ़– यह मृदा वायु द्वारा उड़कर दूसरे स्थान पर पहुँचती है।

(स) मिश्रोढ़ (मलवा) मृदा– यह मृदा पृथ्वी के आकर्षण के द्वारा दूसरे स्थान पर पहुँचती है।

(द) **हिम मृदा– यह मृदा ग्लेशियर के फिसलने से दूसरे स्थान पर पहुँचती है।**

2. मृदा संरचना एवं गठन– इस के आधार पर मृदा को निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है–

(अ) बलुई मिट्टी– बलुई मिट्टी में बालू के कण अधिक मात्रा में होते हैं, जिनके बीच वायु प्रचुर मात्रा में रहती है। यह मिट्टी जल बहुत तेजी के साथ सोखती है। यह मिट्टी पौधों के लिये उपयोगी नहीं होती है।

(ब) **चिकनी मिट्टी**– चिकनी मिट्टी के कण महीन होते हैं और इस मिट्टी में वायु अवकाश कम होते हैं। ये मिट्टी भी पौधों के लिये अधिक उपयोगी नहीं होती है।

(स) **दोमट मिट्टी**– यह मिट्टी पौधों की वृद्धि के लिये सर्वोत्तम होती है। इस मिट्टी में बालू एवं चिकनी मिट्टी के कणों का लगभग बराबर मिश्रण होता है। इस मिट्टी के कणों में बहुत अधिक जल धारण क्षमता होती है।

प्रश्न–6. मृदा–संघटन का उल्लेख कीजिये।

अथवा

मृदा– संघटन पर संक्षिप्त लेख लिखिये।

अथवा

ह्यूमस निर्माण (**Formation of humus**) पर संक्षेप में विवेचना कीजिये।

अथवा

ह्यूमस के प्रकारों की व्याख्या कीजिये। [ग्वालियर 2001,12,15 रीवा 2001]

उत्तर– मृदा–संघटन– संघटन की दृष्टि से मृदा में निम्नलिखित चार पाये जाते हैं–

(1)	खनिज पदार्थ	–	40%
(2)	कार्बनिक पदार्थ	–	10%
(3)	मृदा वायु	–	25%
(4)	मृदा जल	–	25%

इनके अलावा मृदा जीव भी मृदा संघटन में भाग लेते हैं।

(1) **मृदा के खनिज पदार्थ**– मिट्टी में विभिन्न प्रकार के खनिज लवण घुलित अवस्था में पाये जाते हैं जिनका अवशोषण पौधों की जड़ों द्वारा किया जाता है। विभिन्न प्रकार के खनिज तत्व की मात्रा भिन्न–भिन्न होती है। मिट्टी के घुले हुये खनिज तत्वों में धन आयन (+) होता है। कैल्सियम (Ca), पौटेशियम (K), आयरन (Fe), मोलिब्डेनम (Mo), जिंक (Zn), कॉपर (Cu), हाइड्रोजन (H), तथा अमोनिया (NH_3) शामिल हैं। इसके अलावा मृदा में अनेक ऋण (–) आवेश होते है। जैसे– नाइट्रेट (NO_3), नाइट्राइट (NO_2), क्लोराइड (Cl), बाइकार्बोनेट (HCO_3), सल्फेट (SO_4), तथा फॉस्फेट (PO_4) आदि पाये जाते हैं।

मृदा में कार्बनिक पदार्थ या ह्यूमस का निर्माण प्राथमिक प्रकाश संश्लेषणी उत्पाद एवं मृदा के जीवों के विघटन से होता है। मृदा में प्रमुख रूपसे कार्बोहाइड्रेट्स, लिग्निन, वसा, प्रोटीन्स, अल्प मात्रा में एमीनो अम्ल, एल्केन्स, टारपीनॉइडस, केरिटिनॉइड्स फ्लेवोनोइड्स, रेजिन्स एवं पॉलीफिनोल्स यौगिक पाये जाते हैं। इनमें से कार्बोहाइड्रेट एवं सेल्यूलोज का शीघ्र विघटन हो जाता है जिस कारण, ये कम समय तक ही मृदा में मौजूद रहते हैं। कार्बनिक पदार्थों के सूक्ष्म घटक जैसे लिपिड्स, घुलनशील शर्करायें, प्रोटीन्स, एमीनोअम्ल व कार्बनिक अम्ल भी मृदा में पाये जाते हैं। कुछ प्रमुख घटक जैसे ह्यूमिक सम्मिश्र (Humic complexes) मृदा में अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में पाये जाते हैं।

(2) **ह्यूमस (humus)**– ह्यूमस के निर्माण के दौरान यांत्रिक विधियों के द्वारा डफ एवं लिटर का निर्माण होता है। चौपायों के चलने से, वायु– प्रवाह, पत्तरों के गिरने से पेड़– पौधों के अंग छोटे–छोटे भागों में टूट जाते हैं और ये लिटर का निर्माण करते हैं। इस प्रकार जीवाणु, कवक व एक्टिनों माइसिटीज की वृद्धि तेजी से होती है। ये पादपों के अंगों को घुलनशील शर्करा, पोलीसेकेराइड, प्रोटीन्स, वसा में परिणित कर देते हैं। इस प्रकार मृदा में ह्यूमस का निर्माण होता है।

कार्बनिक पदार्थों के अपघटन में अनेक वायुमण्डलीय कारक उत्तरदायी होते हैं। कार्बनिक पदार्थों का संगठन लिटर के रसायन एवं सूक्ष्म जीवों की प्रकृति पर निर्भर करता है।

ह्यूमस के निर्माण की दर मृदा के अपघटन करने वाले जीवों के स्वभाव, तापमान, नमी, वायु के pH पर निर्भर रहती है।

ह्यूमस के प्रकार (**Forms of Humus**)– कार्बनिक पदार्थों की प्रकृति एवं पर्यावरणीय दशाओं के आधार पर ह्यूमस को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(i) मोर ह्यूमस (Mor Humus)– यह ह्यूमस संरचना में मिट्टी के समान होता है। इसमें पोषक तत्वों तथा बिलकारी जन्तुओं जैसे– केचुओं की कमी होती है। इसके लिटर में भी खनिज पदार्थ अपेक्षाकृत कम पाये जाते हैं। इसका विघटन भी धीरे–धीरे होता है। मृदा की सतह पर ऑक्सीजन का एक आवरण बन जाता है। इस ह्यूमस का रंग भूरा काला होता है। इसकी प्रकृति अम्लीय होती है। इस कारण इसका विघटन धीरे–धीरे होता है तथा इसमें सूक्ष्म जीव कम पाये जाते हैं जिससे कार्बनिक पदार्थों के विघटन में विलम्ब होता है।

(ii) मूल ह्यूमस (Mull Humus)– यह एक प्रकार की मृदा होती है जो वनों में मिट्टी के आवरण को आच्छादित किये रहते हैं। इसमें पथरीली मृदा, पत्तियाँ तथा पेड़ों के अवशेष व पोषक तत्व अधिकता में पाये जाते हैं। सूक्ष्म जीव मूल ह्यूमस में अधिकता में पाये जाते हैं। इसके कारण इसका विघटन शीघ्र होता है। इस मृदा में अन्य विघटनकारी जीव कवक, जीवाणु, एक्टिनोमाइसिटीज, प्रचुरता में पाये जाते हैं। इसका कारण यह ह्यूमस अधिक उपयोगी तथा पौधों के लिये सुगमतापूर्वक लाभकारी होती है। इसका pH मान 5.0 होताहै। इसमें केचुयें व बिलकारी जीव अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। यह भुरभुरी व कॉलाइडल प्रकृतति की होती है।

(3) **मृदीय वायु (Soil Air)**– मृदा के कणों के बीच में वायु अवकाश पाये जाते हैं। इनमें वायु पायी जाती हैं। यह वायु पौधों की जड़ों व सूक्ष्म जीवों के श्वसन के लिये आवश्यक होती है। जड़ों में श्वसन क्रिया के होने से पानी व खनिज लवणों का अवशोषण अच्छी तरह से होता है। जिन मिट्टियों में वायु की उपलब्धता कम होती है वहां पर जड़ों का विकास कम होता है जिससे पौधों की वृद्धि सीमित हो जाती है। मृदा में कार्बन डाय ऑक्साइड का संचय होना एक हानिकारक प्रभाव होता है। मिट्टी में वायु के स्थान पर जब पानी भर जाता है तब पौधों की जड़ों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिससे पौधे छोटे–बौने हो जाते हैं और अन्ततः नष्ट हो जाते हैं।

(4) **मृदीय जल (Soil water)**– सामान्यतः मृदा को वर्षा के द्वारा ही जल प्राप्त होता है। यह पानी अधिकतर बह जाता है। केवल इसका 25% ही मिट्टी के द्वारा अवशोषित होता है। इस जल को गुरूत्वीय जल (Gravitational water) कहते हैं। यह जल पौधों को प्राप्त नहीं हो पाता है। जब यह जल काफी समय तक मिट्टी में रहता है तो इससे पौधों की जड़ों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिस कारण ये गलकर नष्ट हो सकती हैं। ऑक्सीजन की अनुलब्धता के कारण श्वसन क्रिया रुक जाती है।

जिससे मूलतन्त्र को काफी हानि होती है। वर्षा का वह जल जो मृदा कणों में गुरूत्वाकर्षण के विपरीत पाया जाता है, वह मृदा को नम बनाये रखता है और मृदा कॉलाइड्स में संचित रहता है। इसे आर्द्रता ग्राही जल (Hygroscopic water) कहते हैं। कुछ जल खनिज लवणों में रासायनिक बंधनों के द्वारा जकड़ा रहता है लेकिन जड़ों की अवशोषण शक्ति को नहीं बढ़ाता है। इस प्रकार के पानी को रासायनिक बंधित जल (Chemically combine water) कहते हैं शेष जल मृदा कणों के चारों ओर एक परत के रूप में मौजूद रहता है। इस जल को कोशिका जल (Capillary water) कहते हैं। यही जल पौधों के लिये सबसे अधिक उपयोगी होता है। इसका अवशोषण भी पौधों की जड़ के द्वारा किया जाता है।

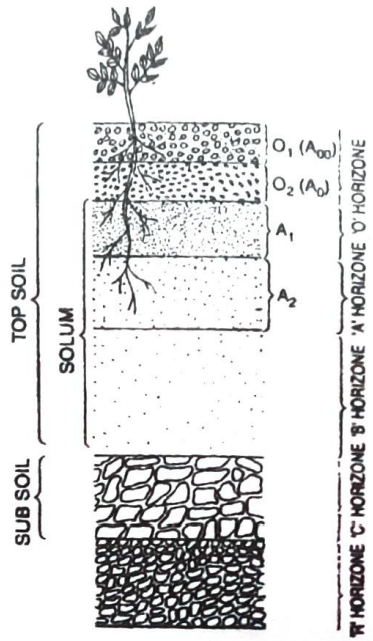
प्रश्न–7. मृदा परिच्छेदिक (Soil profile) [illegible] समझाइये।

[जीवाजी 2006,12,18 भोपाल 2007,14]

अथवा

मृदा परिच्छेदिक का सचित्र वर्णन कीजिये।

उत्तर– किसी स्थान की भूमि को अच्छी गहराई में काटने पर अनेक हॉरीजन (Horizon) पाये जाते हैं। इसे ही मृदा परिच्छेदिका कहते हैं। मृदा परिच्छेदिका में निम्न स्तर पाये जाते हैं–



चित्र– मृदा परिच्छेदिका

(i) हॉरीजन 'ए' (Horizon 'A')– यह भूमि का सबसे ऊपर का स्तर होता है। इस कारण इसे शीर्ष मृदा (Top soil) कहा जाता है। इस स्तर की मोटाई अधिक नहीं होती है। इस स्तर में जन्तुओं, पेड़–पौधों के अवशेष, उनके मल, मूल, कवकों, जीवाणुओं के अपघटित पदार्थ डफ, लिटर एवं ह्यूमस के कारण यह हॉरीजन अधिक उपजाऊ हो जाता है। जब इस हॉरीजन की मिट्टी बालुई (Sandy) होती है। तब इसमें वायु संचार ठीक रहता है जिससे पेड़–पौधों की वृद्धि अच्छी तरह से होती है तथा पानी का जमाव नहीं होता है। यह पानी रिसकर नीचे को चला जाता है। चिकनी (Loamy) मिट्टी में वायु संचार कम होता है तथा इसमें पानी भरा रहता है। इस कारण, इस हॉरीजन में पेड़–पौधों की वृद्धि ठीक तरह से नहीं होती है। पानी के लगातार भरा रहने के कारण पौधे सड़ जाते हैं। आमतौर पर हॉरीजन ए की मोटाई 4 फीट या इससे अधिक हो सकती है। इसमें विभिन्न प्रकार की फसलें व रेशेदार पौधे आसानी से उगाये जा सकते हैं।

हॉरीजन 'ए' की सतह पत्तियाँ व शाखायें, घास से ढँकी रहती है। इस पर सघन मात्रा में वनस्पतियाँ उगी देखी जा सकती है। इस ऊपरी परत को O हॉरीजन (O'horizon) कहते हैं। इसमें ह्यूमस की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह हॉरीजन मृदा के तापमान, आर्द्रता में

परिवर्तन कर देता है। इसमें कवक, जीवाणु, प्रोटोजोआ, निमेटोड्स व अन्य कृमि पाये जाते हैं।

(ii) हॉरीजन 'बी' (Horizon B)– हॉरीजन 'ए' के नीचे की ओर पाया जाता है। इसमें वर्षा का पानी रिस–रिस कर एकत्रित होता रहता है। यह स्तर चिकनी मिट्टी का बना होता है जिस कारण इसमें पानी का रिसाव मंद गति से होता है। अर्ध–पारगम्य होने के कारण पौधों की जड़े आसानी से प्रवेश नहीं कर पाती हैं।

इस भाग में लवण व सूक्ष्म मृदा कण पाये जाते हैं। लेकिन ह्यूमस एवं वायुसंचार का अभाव होता है। इस स्तर में बहुवर्षीय वृक्षों की जड़ें ही प्रवेश कर पाती हैं। यह हॉरीजन पानी के स्रोत (Reservoir) के समान काम करता है। वर्षा का पानी रिसकर यहां पर एकत्रित हो जाता है तथा केशिका क्रिया (Capillary action) के द्वारा हॉरीजन 'ए' पर पहुँचता रहता है।

(iii) हॉरीजन 'सी' (Horizon 'C')– यह मृदा परिच्छेदिका का सबसे नीचे का स्तर होता है। यह स्तर काफी कठोर होता है। इस स्तर में सूक्ष्म जीवों व ह्यूमस का पूर्ण अभाव होता है। पौधों की जड़े इसकी गहराई तक नहीं पहुँच पाती हैं। केवल कुछ ही बहुवर्षीय पौधों की जड़ें ही यहां तक पहुँच पाती हैं।

प्रश्न–8. मृदीय जल का संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [जीवाजी 2007,12]

अथवा

मृदीय जल का संक्षेप में वर्णन कीजिये। [उज्जैन 2018]

उत्तर– मृदीय जल (Soil water)– मृदा को जल वर्षा से प्राप्त होता हैं। सामान्यतः मिट्टी में 25% जल उपस्थित रहता है। भारी वर्षा के बाद अधिकतर पानी बह जाता है जो पौधों को प्राप्त नहीं हो पाता है। कुछ पानी मृदा कणों से होकर नीचे चला जाता है। जो कि गुरूत्वीय जल (Gravitational water) कहलाता है। यह जल भी पौधों को प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि यह जल मृदा में बहुत गहराई पर स्थित होता है व इसमें ऑक्सीजन की कमी के कारण पौधों के मूल तन्त्र को काफी हानि होती है।

इसके अलावा वर्षा का वह जल जो मृदा कणों में गुरूत्व बल के विपरीत एकत्रित रहता है तथा मृदा को नम बनाये रखता हैं तथा मृदा कोलॉइड में एकत्रित रहता है, आर्द्रताग्राही जल (Hygroscopic water) कहलाता है। कुछ जल की मात्रा खनिज लवणों में रासायनिक बंधों के द्वारा जकड़ा रहता है किन्तु जड़ों की अवशोषण शक्ति को नहीं बढ़ाता है। अतः रासायनिक बंधित जल (Chemically combined water) कहलाता हैं। शेष जल मृदा कणों के चारों और एक फिल्म (Film) बनाते हुये उपस्थित रहता है जो केशिकत्व जल कहलाता है। यह जल ही पौधों की जड़ों द्वारा उपयोग में लाया जाता है। विभिन्न प्रकार की मृदा के कणों में अलग–अलग जल ग्रहण क्षमता पायी जाती है। गुरूत्व बल द्वारा पानी के रिस जाने के बाद मृदा कुल जल अपने अन्दर उपस्थित रखती हैं, यह फील्ड क्षमता (Field capacity) कहलाती हैं।

प्रश्न–9. जल–संसाधन के प्रमुख स्रोतों, उनके उपयोगों तथा संरक्षण के उपायों का वर्णन कीजिये।

अथवा

जल–संसाधन एवं उसके संरक्षण पर एक निबन्ध लिखिये।

उत्तर– जल संसाधन (Water Resources)– जल जीवन का आधार है अर्थात् इसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। यह जल–मण्डल (Hydrosphere) का महत्वपूर्ण घटक भी हैं। पृथ्वी का लगभग 4/5 भाग जल से भरा है। हमारी पृथ्वी पर जल मुख्य रूप से

दो रूपों– (i) लवणीय तथा (ii) अलवणीय में पाया जाता है, लेकिन हम सामान्यत: अपने जीवन के लिये अलवणीय जल पर ही निर्भर करते हैं।

लेकिन आजकल समुद्री जल में भी मछली तथा मुक्ता सीपी (Pearl oyester) का पालन किया जा रहा है। मुक्ता या मोती एक महत्वपूर्ण जन्तु उत्पाद है, जिसका उपयोग आभूषण के रूप में किया जाता है। मुक्ता का निर्माण कुछ जाति–विशेष के सीपी करते है, जिन्हें मुक्ता सीपी कहते हैं। आजकल समुद्र तट पर मुक्ता सीपियों को पाल कर उनमें कृत्रिम चोट पैदाकर मोतियों को औद्योगिक रूप में उत्पादित किया जाता है।

अलवणीय जल का उपयोग मनुष्य पीने तथा सिंचाई के लिये मुख्य रूप से करता है। इस मनुष्य को वर्षा के जल, कुओं, नदी, नालों, तालाबों इत्यादि से प्राप्त होता है।

भारत के जल–स्रोत (Water Resources of India)– भारत के प्रमुख जल-प्राप्ति स्रोतों को दो वर्गों में रखा जाता है–

(1) धरातलीय जल (Surface water) एवं (2) भूमिगत जल (Underground water)

(1) धरातलीय जल (Surface water)– भारत में धरातल को जल मानसूनी वर्षा से प्राप्त होता है। वर्षा एक महत्वपूर्ण जल संसाधन है। इसी से नदियों, जलाशयों, नहरों आदि को जल की पूर्ति होती है। देश की औसत वार्षिक वर्षा लगभग 10 सेमी है। देश के 10 प्रतिशत भाग में 200 सेमी से अधिक तथा 33 प्रतिशत भाग में शून्य से 75 सेमी तक वर्षा होती है जो लगभग 3700 विलियन घनमीटर जल के बराबर है। इसका 33प्रतिशत जल वाष्पीकृत हो जाता है। 45 प्रतिशत जल जलाशय, नदियों आदि में प्रवाहित होता है शेष 22 प्रतिशत जल भूमि द्वारा सोख लिया जाता है। धरातलीय जल जो नदियों में प्रवाहित होता है व्यर्थ न जाने पाये इसलिये स्वतन्त्रता के पश्चात् नदी–मार्गों पर छोटे–बड़े जलाशयों का निर्माण कर जल को सुरक्षित कर लिया जाता है और आवश्यकतानुसार समय–समय पर जल का उपयोग कृषि–कार्यों, औद्योगिक आवश्यकताओं, विद्युत–उत्पादन आदि कार्यों में किया जाता है।

2. भूमिगत जल (Underground water)– भारत में वर्षा जल का लगभग 22 प्रतिशत भाग चट्टानों के छिद्रों व दरारों से रिस कर धरातल में प्रवेश कर जाता है। चट्टानों में रिस कर पहुँचे हुये इसी जल को भूमिगत जल कहा जाता है। कुयें, पातालतोड़ कुयें, ट्यूबवैल, हैण्ड पम्प आदि इसके उदाहरण हैं।

यह लगभग 22 प्रतिशत जल धरातल के नीचे प्रवेश स्तर तक पहुंच जाता है, जिसे ट्यूबवैल, हैण्डपम्प तथा कुयें खोद कर प्राप्त किया जा सकता है। इसका मात्र 70 प्रतिशत भाग ही हम आर्थिक रूप से प्रयोग कर सकते हैं, अर्थात् 70 प्रतिशत जल हमारे लिये जल–संसाधन कहलायेगा। भारत में मानसूनी वर्षा, अनियमित, अनिश्चित व असमान वितरण वाली है। जिन भू–भागों में वर्षा नहीं होती या कम होती है, वहाँ का भूमिगत जल–स्तर नीचा एवं जल खारा होता है जो कि सिंचाई के लिये उपयोग में नहीं लाया जा सकता है।

जल संसाधन सम्बन्धी समस्यायें– भारत में जल का प्रमुख स्रोत मानसूनी वर्षा है। मानसूनी वर्षा की सबसे बड़ी विशेषता अनियमित, अनिश्चिता एवं असमान वितरण है। इसी कारण दैनिक समाचार–पत्रों में हमें एक साथ सूखे व बाढ़ के समाचार पढ़ने को मिलते हैं। वर्षा की इन्हीं विशेषताओं ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(1) **वर्षा कमी कमी**– भारत के अनेक क्षेत्रों में विशेषकर पश्चिमी राजस्थान तथा पश्चिमी घाट पर्वत के पूर्व में स्थित वृष्टि छाया वाले भागों में अत्यन्त कम वर्षा होती है। इसलिये धरातलीय तथा भूमिगत जल की यहाँ अत्यन्त कमी है। कम वर्षा

वाले क्षेत्रों का भूमिगत जल खारा तथा जल–स्तर नीचा होता है, जिसके कारण पीने एवं सिंचाई के लिये जल का उपयोग नहीं किया जा सकता।

(2) शुद्ध पेयजल का अभाव– बढ़ती जनसंख्या एवं शहरीकरण के कारण आज हमारे लिये शुद्ध मीठे पेयजल का अभाव है।

(3) **जल का दुरुपयोग**– जल के दुरुपयोग अर्थात् अत्यधिक सिंचाई के कारण धरातल के भीतर की क्षारीयता ऊपर आ जाती है फलस्वरूप भूमिकी उर्वरा–शक्ति क्षीण हो जाती है। वर्तमान में पेयजल का अत्यधिक दुरुपयोग किया जा रहा है, जैसे– नगरपालिका क्षेत्रों में नलों को उपयोग के पश्चात् खुला छोड़ दिया जाता है, जिसके कारण शुद्ध पेयजल व्यर्थ बहता रहता है।

(4) **बाढ़–ग्रस्त क्षेत्र**–. वनों की अन्धाधुन्ध कटाई, नदी धारा में परिवर्तन, नदी मार्ग में मानव द्वारा व्यवधान एवं अत्यधिक वर्षा बाढ़ का कारण बनते हैं। भारत में प्रतिवर्ष कई स्थानों में बाढ़ आती है। केन्द्रीय जल आयोग के अनुसार भारत में लगभग 50 लाख हेक्टेयर भूमि अर्थात् कुल क्षेत्रफल का लगभग 1/8 भाग क्षेत्र बाढ़–ग्रस्त है अतः इसे बाढ़ग्राही क्षेत्र घोषित कर दिया गया है।

(5) जल–प्रदूषण– नदी तट पर शहरों व उद्योगों की स्थापना से इनका गन्दा जल नदी में प्रवाहित कर देने से जल–प्रदूषण बढ़ रहा है।

(6) **सूखा–ग्रस्त क्षेत्र**– भारत के कई राज्यों में वर्षा की अनियमितता के कारण सूखे का प्रकोप रहता है। केन्द्रीय जल आयोग के अनुसार देश की लगभग 30 प्रतिशत कृषि–भूमि पर सूखे का भय प्रतिवर्ष बना रहता है, वहीं सदैव अकालग्रस्त रहने वाला क्षेत्र देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 1/5 भाग है।

जल–संसाधनों का संरक्षण (Conservations of water Resources)– जल एक बहुमूल्य संसाधन है। भारत में यह कहीं बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है, तो कहीं पर विनाश का। जल की इस असमानता को दूर करने के लिये जल–संसाधन के संरक्षण की आवश्यकता है। जनसंख्या वृद्धि एवं आने वाली आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये जल की एक–एक बूँद को संचित कर रखना पड़ेगा। जल–संरक्षण के लिये निम्नलिखित उपाय किये जाने चाहिये–

(1) **बाँध एवं जलाशयों का निर्माण**– नदी के बाढ़ के प्रकोप से बचने के लिये आवश्यक स्थानों (खेतों) पर सिंचाई करने हेतु नदी मार्गों में बाँधों एवं जलाशयों का निर्माण किया जाये। इससे हमें शुद्ध पेयजल एवं औद्योगिक आवश्यकताओं एवं विद्युतशक्ति हेतु जल की प्राप्ति होगी।

(2) **आधुनिक सिंचाई पद्धति का प्रयोग**– सामान्य सिंचाई पद्धतियों से धरातल के भीतर की क्षारीयता सतह पर आ जाती है, जिससे मिट्टी की उर्वरा–शक्ति कम हो जाती है। इस समस्या के समाधान के लिये स्प्रिंकलर एवं ड्रिप सिंचाई पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिये।

(3) **जल शुद्धिकरण संयन्त्रों की स्थापना**– आजकल नगरों एवं स्थापित उद्योगों द्वारा जल का अत्यधिक प्रदूषण किया जा रहा है। इस समस्या के समाधान के लिये प्रत्येक नगर एवं उद्योगों में जल–शुद्धिकरण संयन्त्रों की स्थापना की जाये ताकि प्रदूषित जल को शुद्ध कर पुनः उपयोग में लाया जा सके।

(4) वृक्षारोपण– जहाँ भूमिगत जल–स्तर काफी नीचे है, वहाँ वृक्षारोपण कार्यक्रम को प्राथमिकता दी जाये।

(5) **जल–संसाधन के प्रति जागरूकता–** जल–संसाधन की समस्या का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि लोगों में इसके प्रति जागरूकता न हो। अतः जल–संसाधन संरक्षण कार्यक्रम को जन–आन्दोलन का रूप दिया जाये।

प्रश्न–10. जलक्रान्ति एवं लवणता की समस्या पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– बारिश के पानी को नहरों, स्रोतों, जलाशयों और कुओं के माध्यम से संरक्षित किया जाता है तथा सिंचाई और अन्य कार्यों में इसे उपयोग किया जाता है। सिंचाई की सुविधाओं के कारण कृषि–उत्पादन बढ़ रहा है। लेकिन इनकी वजह से कुछ हानियाँ भी हो रही हैं। जलक्रान्ति और लवणता की समस्या इसी का एक उदाहरण है। अधिक सिंचाई के कारण भूजल–स्तर बहुत ऊपर उठ गया है और भूपृष्ठ पर हानिकारक लवण इकट्ठे हो जाते हैं। जिन निचले भागों में नहरी जल जमा रहता है वहां दलदल के कारण भूमि बेकार हो जाती है।

नदियों के किनारे बाष्पीकरण से एकत्रित नमक की परत नहरों की सुरक्षा के लिये घातक होती है। इसलिये अधिक सिंचाई में लाभ के साथ–साथ हानि भी होती है। लगातार पानी इकट्ठा होने के कारण जलक्रान्ति या जल एकत्रीकरण की समस्या भी सामने आती है। जलक्रान्ति एवं लवण जमा से भूमि की उर्वरा–शक्ति भी प्रभावित होती है। इसकी वजह से भारत में लगभग 20% सिंचित भूमि नष्ट हो चुकी है और पूरे विश्व की 30% से 80% तक भूमि लवणता से प्रभावित हुई है। जहां बड़ी सिंचाई परियोजनायें चल रही हैं वहां जलक्रान्ति तथा लवण जमाव की समस्यायें दोषपूर्ण निकासी–व्यवस्था के कारण उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न–11. भारत में भूमिगत जल विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

उत्तर– देश में नदी प्रणाली में लगभग 1869 घन किलोमीटर जल होने का अनुमान है। इस जलराशि का 60% हिमालय की नदियों में, 16% मध्य भारत की नदियों में तथा 24% प्रायद्वीपीय पठार की नदियों में विद्यमान है। एक अनुमान के अनुसार इसमें 690 घन किलोमीटर जल उपयोग में लाया जा सकता है। साथ ही भारत में 432 घन किलोमीटर भूमिगत जल के भण्डार भी हैं। यहाँ भूमिगत जल क्षमता के मूल्यांकन का कार्य केन्द्रीय भूमिगत जल बोर्ड द्वारा किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि भारत में कुल आपूर्ति भूमिगत जल लगभग 433.9 लाख हेक्टेयर मीटर प्रति वर्ष है। लगभग 71.3 लाख हेक्टेयर मीटर प्रतिवर्ष जल का उपयोग घरेलू एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के लिये किया जाता है। देश में जल संसाधनों के विकास और प्रबन्ध पर नियंत्रण रखने और उनके नियमन के लिये 14 जनवरी, 1997 का पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 के अन्तर्गत केन्द्रीय जल प्राधिकरण की स्थापना की गयी।

प्रश्न–12. संभावित जल संकट और इसके समाधान के उपायों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर– संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा हाल ही में प्रकाशित आँकड़ों के अनुसार विश्व के विकासशील देशों के लगभग 12 करोड़ व्यक्तियों को स्वच्छ और पीने योग्य जल उपलब्ध नहीं है एवं विकासशील देशों में प्रतिवर्ष 2 करोड़ 40 लाख लोगों की मौत दूषित जल से सम्बन्धित बीमारियों के कारण हो जाती है। विकासशील देशों के 35 प्रतिशत से भी अधिक लोगों को स्वच्छ और पीने योग्य पानी उपलब्ध नहीं है। इन आँकड़ों के अनुसार विश्व के केवल 75 प्रतिशत शहरी और 40 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में ही स्वच्छ पेयजल उपलब्ध है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही विश्व के 25 से भी अधिक देशों में जल का गम्भीर संकट उत्पन्न हो जायेगा।

जल की उपलब्धता– यूनेस्को की एक ताजा रिपोर्ट के अनुसार पृथ्वी पर जल की कुल मात्रा का 97.2 प्रतिशत समुद्रों में समुद्री जल के रूप में, 2.2 प्रति हिम–नदियों और हिम–शिखरों में बर्फ के रूप में तथा .6 प्रतिशत भूमिगत जल और धरातल पर मृदु जल के रूप में उपलब्ध है। इस प्रकार पृथ्वी पर पाये जाने वाले कुल जल का दशमलव छह प्रतिशत भाग ही मानव प्रयोग हेतु मृदु जल के रूप में प्राप्त है। यह जल दो रूपों में उपलब्ध है। एक तो भूमिगत जल के रूप में जमीन के अन्दर और दूसरे सतही जल के रूप में जमीन के ऊपर नदियों, झीलों और तालाबों में।

मृदु जल का लगभग 97.74 प्रतिशत भाग भूमिगत जल के रूप में पृथ्वी की निचली पर्तों में उपलब्ध है और शेष 2.26 प्रतिशत सतही जल में से 1.47 प्रतिशत भाग झीलों में, .78 प्रतिशत भाग मिट्टी में नमी के रूप में तथा मात्र .01 प्रतिशत भाग नदियों और धाराओं के रूप में मिलता है। इस सन्दर्भ में एक गौरतलब बात यह है कि पूरे संसार में होने वाली जलापूर्ति का लगभग 95 प्रतिशत भाग भूमिगत जल से ही पूरा किया जाता है और शेष 5 प्रतिशत जलापूर्ति सतही जल अर्थात् नदियों, झीलों और नहरों आदि से होती है।

विश्व के विभिन्न देशों में उपलब्ध जल की मात्रा और उसकी उपयोगिता पर दृष्टि डालें तो विदित होता है कि हमारे देश में जल की पर्याप्त उपलब्धता तो है लेकिन प्रति व्यक्ति जल का उपयोग बहुत कम है। भारत में प्रति व्यक्ति जल का उपयोग मात्र 610 घन मीटर प्रतिवर्ष है जबकि आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टीना, अमेरिका और कनाडा में यह 1000 घन मीटर प्रतिवर्ष से भी अधिक है। इसी प्रकार घरेलू उपयोग में हम केवल 3 प्रतिशत जल का ही उपयोग कर पा रहे हैं जबकि इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, फ्रान्स और कनाडा आदि देशों में यह उपयोग 5 गुना से भी अधिक है। लगभग ऐसी ही स्थिति औद्योगिक क्षेत्र में भी पायी जाती है।

प्रदूषण की स्थिति– जनसंख्या के बढ़ते दबाव और आधुनिक वैज्ञानिक युग में लोगों के जीवन–स्तर में हो रहे सुधार के फलस्वरूप जल की खपत संसार के लगभग सभी देशों में तेजी से बढ़ रही है। साथ ही बढ़ते औद्योगीकरण और पर्यावरण प्रदूषण के कारण उपलब्ध जल का एक बड़ा भाग उपयोग योग्य न रह जाने के कारण भूमिगत जल पर निर्भरता अधिक बढ़ी है। पृथ्वी के अंदर जल–स्तर में निरन्तर हो रही गिरावट ने हमें भूमिगत जल–स्रोतों की सुरक्षा हेतु सोचने को मजबूर किया है।

जल–संसाधन के सन्दर्भ में हमारा देश संसार के सम्पन्न देशों में आता है, भले ही हम उपलब्ध जल का अनुकूलतम उपयोग न करते हों। वर्तमान में देश में वार्षिक तौर पर 4.5 करोड़ हेक्टेयर मीटर भूमिगत जल उपलब्ध है जिसमें से केवल 70 लाख हेक्टेयर मीटर पीने के लिये, उद्योगों के लिये तथा अन्य कार्यों हेतु प्रयोग किया जा रहा है। शेष लगभग 3.8 करोड़ हेक्टेयर मीटर भूमिगत जल अभी प्रयोग हेतु उपलब्ध है यद्यपि इसकी गहराई निरन्तर बढ़ती जा रही है। भूमिगत जल के अतिरिक्त सतही जल में भी देश में काफी मात्रा में उपलब्ध है लेकिन इसका वास्तविक उपयोग बहुत कम है। साथ ही इसका 70 प्रतिशत भाग बुरी तरह प्रदूषित हो चुका है।

देश के विभिन्न भागों में स्थापित ताप विद्युतगृह भी भूमिगत जल को विषाक्त करने में अहम भूमिका रखते हैं। इन विद्युतगृहों से प्रतिदिन लाखों टन राख निकलती है और उपयोग के अभाव में वह सालों साल ऐसे ही जमीन पर बेकार पड़ी रहती है। इस राख में अनेक भारी धातुयें मिली रहती हैं जो धीरे–धीरे जमीन के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं तथा जल को और विषाक्त कर देती हैं।

देश में खाद्यान्न उत्पादन की बढ़ोत्तरी के उद्देश्य से कृषि-क्षेत्र में हुई हरित क्रान्ति के फलस्वरूप शीघ्र एवं अधिक पैदावार देने वाली फसलों हेतु रासायनिक खादों, कीटनाशकों तथा खरपतवार नाशक दवाओं का अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जा रहा है। ये सभी पदार्थ धीरे-धीरे मिट्टी में प्रवेश कर भूमिगत जल को प्रदूषित कर रहे हैं। उल्लेखनीय है कि कृषि में प्रयोग की जा रही रासायनिक खादों का 50 प्रतिशत अंश ही फसलों को पोषण प्रदान करता है, 25 प्रतिशत भाग मिट्टी में मिलकर नाइट्रोजन गैस में परिवर्तित हो जाता है और शेष 25 प्रतिशत मिट्टी में रिस-रिस कर भूमिगत जल में मिल जाता है। हाल ही में किये गये एक शोध अध्ययन के अनुसार पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिगत जल के प्रदूषण में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो रही है। फसलों की पैदावार बढ़ाने के लिये यहाँ प्रति हेक्टेयर सर्वाधिक रासायनिक खादों, कीटनाशकों आदि का प्रयोग किया जाता है और यह उसी का दुष्परिणाम है।

इससे स्पष्ट है कि प्रदूषित जल के कारण दिन-प्रतिदिन नई समस्यायें पैदा हो रही हैं और भविष्य में जल उपयोग की तरफ ध्यान नहीं दिया गया तो पूरे देश में सूखे की स्थिति पैदा हो सकती है। अतः सरकार के साथ-साथ हम सभी को मिलकर आने वाली पीढ़ियों के लिये जल की उपलब्धता सुनिश्चित करनी होगी और इसके लिये भूमिगत जल के साथ-साथ समुद्रों, नदियों, तालाबों आदि सभी के जल को प्रदूषण मुक्त करने हेतु अपने-अपने स्तर पर आवश्यक कदम उठाकर, जल के अन्धाधुंध उपयोग पर अंकुश लगाने एवं उसकी बर्बादी रोकने में अपना सक्रिय सहयोग देना होगा।

समस्या का निराकरण– इस दिशा में वांछित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बहुस्तरीय प्रयास किये जाने आवश्यक हैं। उद्योगों द्वारा किये जा रहे जलस्रोतों के अनियन्त्रित दोहन को रोकना एवं उनके द्वारा औद्योगिक कचरे को जलस्रोतों में मिलने से रोकने हेतु प्रभावी कदम उठाया जाना नितान्त अपरिहार्य है। इस सम्बन्ध में देश में यद्यपि कानून मौजूद हैं लेकिन आवश्यकता है उनके प्रभावी क्रियान्वयन की। सच्चाई यह है कि इन कानूनों में कमियाँ होने और इनके अव्यावहारिक होने के कारण ये पूरी तरह निष्क्रिय साबित हुये हैं। वनों की अंधाधुंध कटाई, भूमिगत जल का अंधाधुंध दोहन और जल का अवांछनीय प्रयोग रोकने हेतु जन-सामान्य को जानकारी देना अब अधिक प्रासंगिक हो गया है क्योंकि अभी तक लोगों को इस विषय में समुचित और तथ्यपरक जानकारी उपलब्ध नहीं है। वे सूखा और अकाल की स्थितियों के लिये प्रकृति को दोषी मानते हैं, उन्हें दैवी प्रकोप समझते हैं। वैज्ञानिक जानकारी के अभाव में वे जल का दुरुपयोग रोकने के लिये प्रभावी कदम नहीं उठा पाते। इसके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियों में भूमिगत जल के विकल्पों की खोज करना भी अत्यावश्यक हो गया है। वर्षा से प्राप्त जल को जलाशयों में एकत्र कर उसका अधिकाधिक प्रयोग करना तथा तालाबों, झीलों और नदियों में उपलब्ध जल को प्रदूषित होने से बचाकर उसका भी अधिकतम उपयोग करना इस दिशा में एक उपयोगी प्रयास होगा जो एक दूरदर्शितापूर्ण नीति बनाकर, सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों तथा त्रि-स्तरीय पंचायतों के प्रयासों में समन्वय लाकर और इस दिशा में जनचेतना विकसित करके पूरा किया जा सकता है।

प्रश्न–13. वर्षा–जल संग्रहण से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– वर्षा-जल संग्रहण का अर्थ भूमिगत जल की क्षमता को बढ़ाना है। वर्षा का जल जहाँ गिरता है, वहीं उसका उपयोग करना वर्षा जल संग्रहण कहलाता है। वर्षा-जल संग्रहण के अनेक ढंग हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(1) वर्षा-जल को भवनों की छतों से ही एकत्रित कर लेना चाहिये।

(2) आस-पास पड़ने वाली वर्षा का बहने वाला पानी तालाबों आदि में इकट्ठा कर लेना चाहिये ताकि बाद में उसका उपयोग किया जा सके।

(3) वर्षा-काल में जब नदियों में बाढ़ आयी हो तो इस जल को फालतू भूमि में गड्ढे बनाकर भर लेना चाहिये।

(4) उपरोक्त विधियों से एकत्रित किये गये जल को गन्दा होने से बचाना चाहिये।

वर्षा–जल संग्रहण से निम्नांकित लाभ उठाये जा सकते हैं–

(1) इसे साफ करके स्थानीय लोगों की पानी पीने की आवश्यकता को पूरा किया जा सकता है।

(2) वर्षा कम होने पर इसका उपयोग सिंचाई के लिये किया जा सकता है।

(3) धरातल के नीचे पानी का स्तर ऊँचा रहता है जिसे कुओं और नलकूपों द्वारा बाहर निकालकर उपयोग किया जा सकता है।

(4) जल-संग्रहण के फलस्वरूप आस-पास के भागों में बाढ़ की भी स्थिति नहीं रहती।

प्रश्न–14. रेन वाटर हारवेस्टिंग के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– रेन वाटर हार्वेस्टिंग (जल सत्याग्रह की मुहिम)–

(1) **पहला तरीका– जमीन में पानी उतारने का गड्ढा (Pit)**– एक हजार वर्ग फीट की छत वाले छोटे मकानों के लिये यह सरल तरीका बहुत ही उपयुक्त है। एक बरसाती मौसम में इस छोटी-सी छत से लगभग एक लाख लीटर पानी जमीन में उतारा जा सकता है। यह गड्ढा किसी भी आकार का हो सकता है गोलाकार, वर्गाकार या आयताकार। साधारणतया यह गड्ढा 3 से 5 फीट चौड़ा और 6 से 10 फीट गहरा बनाया जाता है। खुदाई के बाद इसमें कंकड़, रोड़ी और बजरी भर दी जाती है और ऊपर से मोटी रेत डाल दी जाती है।

छत को अच्छी तरह से साफ करके उसका पूरा पानी एक पाईप से नीचे उतारकर उसी पाइप को इस गड्ढे में जोड़ दिया जाता है। इस तरह बरसाती पानी जमीन में उतरकर अपने मकान के नीचे के पानी के स्तर में बढ़ोत्तरी करता है। इस विधि में यह आवश्यक है कि पहली एक-दो बरसात का पानी जमीन में न उतारा जाये। इसमें कोई ज्यादा खर्च नहीं लगता, लगभग दो हजार रुपयों में कार्य हो जाता है।

(2) **दूसरा तरीका– खाई बनाकर रीचार्ज करना (Trench)**– दो से तीन हजार फीट की छतें जिन मकानों पर हैं तथा जिसके आसपास जमीन तथा बाउण्ड्रीवाल है, उन मकानों के लिये यह तरीका उपयुक्त है। उथली गहराई पर जब पर्याप्त मोटाई की मिट्टी की ऐसी तह उपलब्ध होती है, जिसमें से पानी नीचे उतर सके, तभी यह तरीका कारगर होता है। मकान के आसपास बाउण्ड्रीवाल से सटे हुये भाग में चारों तरफ 3 से 5 फुट गहरी एवं लगभग 1 फीट चौड़ी एक नाली खोदी जाती है, जिसमें कंकड़ और रोडी भर दी जाती है। छतों के चारों कोनों या बीच से पाइप लाइन उतारकर इस नाली से उन्हें जोड़ दिया जाता है। इस पद्धति का उपयोग स्कूल, कॉलेजों के खेल मैदान, सड़क के किनारों और बगीचों में भी किया जा सकता है।

(3) **तीसरा तरीका– कुओं में पानी उतारना**– घर के अन्दर या बाहर कुओं को रीचार्ज करने के लिये इस तरीके का इस्तेमाल करना चाहिये। यह तरीका सूखे कुओं को फिर से भरने के लिये भी उपयोगी होता है। पहले कुएं के तल तथा उसकी दीवारों को पूरी तरह साफ कर लेना चाहिये, उस पर ढक्कन लगाने का बंदोबस्त भी कर देना चाहिये। इसके बाद घर की छत से एक पाइप लाइन उतारकर उसे सीधे कुएं की तली तक ले जाना चाहिये। बरसात के दौरान आप एक चमत्कार देखेंगे कि वह सुखा हुआ कुआं कितनी जल्दी पानी से भर जाता है और

उतनी ही जल्दी उसका पानी प्यासी जमीन के अन्दर भी उतरता है जो भविष्य में आपके कुएं को हमेशा पानी देता रहेगा। कुएं को नियमित साफ करना चाहिये तथा कुएं में जीवाणुनाशक दवाइयाँ तथा क्लोरीन भी हमेशा डालनी चाहिये। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रारंभिक बारिश का एक या दो बार का पानी कुएं में न उतारा जाये।

(4) **चौथा तरीका– ट्यूबवैल में पानी उतारना (Deep Aquifier)**– पंद्रह सौ से पच्चीस सौ वर्ग फीट छत वाले मकानों के लिये यह पद्धति उपयुक्त है। छत पर बरसात में इकट्ठा किया गया पानी हैण्डपम्प या ट्यूबवैल तक लगभग अढाई इंच 75 एम.एम. व्यास वाले पाइप द्वारा पहुँचाया जाता है। पाइप को ट्यूबवैल से जोड़ने के पहले एक फिल्टर का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। फिल्टर पी.वी.सी. पाइप का बना होता है। छत यदि 1500 वर्ग फीट से कम हो तो फिल्टर 6 इंच व्यास का और इससे अधिक हो तो 8 इंच व्यास का होना चाहिये, इसकी लम्बाई 3 से 4 फीट होती है। यह तीन भाग में विभाजित होता है, बीच में पी.वी.सी. की जाली लगी होती है तथा तीनों खंडों में विभिन्न साइज के कंकड़ रहते हैं। इस पद्धति में कोई अधिक खर्च नहीं आता है, 2 से 3 हजार के बीच में इसका निर्माण कराया जा सकता है। आजकल कुछ स्वैच्छिक संस्थायें भी इस कार्य को करने लगी हैं। हमें ध्यान देना चाहिये कि भूमिगत जल–स्तर अब खतरे के निशान को भी पार कर गया है। 200 से 300 फीट गहराई तो मामूली बात हो गयी है, 1,000 फीट गहराई तक ट्यूबवैल खुदने लगे हैं और वे भी गर्मियों में सूख जाते हैं। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि घर या घर के आसपास के ट्यूबवैल इस पद्धति से रीचार्ज किये जावें। कृपया ध्यान रखें पहली एक–दो बरसात का पानी ट्यूबवैल में डालने के बदले बहा दिया जाना चाहिये।

(5) **पाँचवां तरीका– बड़े भवनों के ट्यूबवैल को रीचार्ज करना**– सरकारी, गैर–सरकारी एवं उद्योगों के बड़े–बड़े भवनों की छतों पर बरसात में लाखों लीटर पानी एकत्रित होता है, जो नालियों में बह जाता है। इन छतों पर एकत्रित पानी को जमीन के गहरे जल–स्तर में उतारना थोड़ा खर्चीला काम है, लेकिन जनहित में सरकार तथा सामाजिक संस्थाओं को इस पद्धति का उपयोग करना ही चाहिये। भवन की छत के अलग–अलग स्थानों से बरसात का पानी पी.वी.सी. पाइपों द्वारा अलग–अलग कलेक्शन चेम्बर में लाकर एक फिल्टर पिट में डाला जाता है। फिल्टर पिट दो भागों में बँटा होता है पहले भाग में गिट्टी, बजरी, कोयला एवं रेत भरी होती है, हर एक सतह जाली द्वारा अलग–अलग रखी जाती है, बरसात का पानी इस फिल्टर से छनकर पिट के दूसरे भाग में चला जाता है, वहाँ से सीधा इसे पाइप द्वारा ट्यूबवैल से जोड़ दिया जाता है, पाइपों को ढलान में रखा जाता है ताकि पानी रुके नहीं। ध्यान रखें कि पहली बरसात का एक–दो बार का पानी ट्यूबवैल के अंदर उतारने के बदले बहा देना चाहिये। आवश्यकता है कि इस पद्धति के उपयोग के लिये विशेषज्ञों की मदद लेना चाहिये।

(6) **छठा तरीका– रीचार्ज शॉफ्ट द्वारा**– रीचार्ज शॉफ्ट 2 फीट से 6 फीट व्यास वाला कुआं ही होता है, जिसकी गहराई 30 से 50 फीट तक हो सकती है। इसका व्यास बरसाती पानी के उस स्थान की उपलब्धता पर निर्भर करता है। वैसे चिकनी मिट्टी की सतह के नीचे जहाँ कम गहराई पर जल–स्तर होता है, वहाँ इसका निर्माण कराना चाहिये। शॉफ्ट हाथ से अथवा मशीन से खोदी जा सकती है, शॉफ्ट को कंकड़, बजरी और साफ की हुई रेत से भरना चाहिये। इस शॉफ्ट का निर्माण भवनों से 30 से 50 फीट की दूरी पर करना चाहिये। शॉफ्ट के ऊपर की रेत की परत को हटाकर नियमित रूप से साफ कर दोबारा भरना चाहिये।

प्रश्न–15. वर्षा या वर्षण कारक का वनस्पतियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, संक्षेप में समझाइये। [सागर 2008]

अथवा

वर्षा कारक का संक्षेप में वर्णन कीजिये। [मोपाल 2006 जबलपुर 07]

उत्तर– पौधों को मुख्य रूप से वर्षा के द्वारा ही जल प्राप्त होता है। पौधों की जड़ों द्वारा जल का अवशोषण किया जाता है। जल के अधिकांश मात्रा का ह्रास वाष्पोत्सर्जन की क्रिया के द्वारा होता है। वाष्पीकरण की क्रिया के द्वारा जल जलवाष्प में परिणित हो जाता है। जलवाष्प आपस में संघनित होकर मानसून का निर्माण करती है जो ठण्डक पाकर वर्षा के रूप में पानी को उपलब्ध करा देती है। पृथ्वी के भू–भागों में वर्षा का असमान वितरण पाया जाता है। वर्षा के आधार पर वनस्पतियों का वितरण व उनकी प्रकृति का पता चलता है। अधिक वर्षा व अधिक तापमान वाले क्षेत्रों में घने व ऊँचे जंगल पाये जाते हैं। अधिक वर्षा लेकिन कम तापमान वाले क्षेत्रों में घास के मैदान व छोटे वृक्षों एवं झाड़ियों की बहुलता होती है। औसत वर्षा वाले क्षेत्रों में पर्णपाती (Deciduous) वन पाये जाते हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्षा ही किसी क्षेत्र की वनस्पति का निर्धारण करती है।

वर्षा का जल प्रत्यक्ष रूप से जीवधरियों के काम नहीं आता है। वर्षा का जल मृदा में पहुँचने के उपरान्त ही जीवधारियों के काम आता है। वर्षा अनेक रूपों में होती है। जैसे– फुहार वर्षा, बर्फ, ओस, पाला, ओले, सहिम वृष्टि, फुहार में पानी छोटी–छोटी बूंदों के रूप में बरसता है। ये बूँदे पानी में तैरती हैं। द्रव जल की बूंदे वर्षा कहलाती हैं। ये बूँदे बड़े आकार की होती हैं। बर्फ ठोस रूप में होती है। ओस एवं पाला नमी के संघनन के कारण उत्पन्न होता है। यह पृथ्वी की सतह, वनस्पतियों एवं जन्तुओं पर गिर जाता है।

सहिम वृष्टि (Sleet) वर्षा के रूप में बर्फ के छोटे–छोटे दाने होते हैं। पौधों के लिये बर्फ घातक होती है। इसमें पत्तियाँ शाखायें टूट जाती हैं। ओले भी पौधों को हानि पहुँचाते हैं। कुछ झाड़ियाँ बर्फ में उगलती हुई पायी जाती हैं। हमारे देश में मानसून के आगमन पर वर्षा होती है। वर्षा का 45% पानी नदियों में बहकर चला जाता है। 25% पानी भूमि के द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। 35% पानी वाष्पोत्सर्जन की क्रिया के द्वारा वायुमण्डल में पहुंच जाता है।

शिम्पर (Schimper) के तृतीय नियम के अनुसार वनस्पतियों के वितरण पर वर्षा का प्रभाव पड़ता है। ऊष्ण एवं शीतोष्ण क्षेत्रों की वनस्पतियों का वितरण वर्षा की कुल मात्रा एवं वायु की आर्द्रता के अनुसार होता है। इसे तालिका में प्रदर्शित किया गया है–

क्रमांक	वर्षा (Rainfall)	वनस्पतियाँ (Vegetation)
1.	0.0–13.24 सेमी	मरूस्थल
2.	बर्फ के रूप में 25 सेमी से कम	एल्पाइन/टुण्ड्रा
3.	13.25–35.1 सेमी	अर्द्धशुष्क घास के मैदान
4.	35.2–63.5 सेमी	शुष्क सब ट्रॉपीकल घास के मैदान सेवाना तथा खुले काष्ठ के मैदान
5.	63.6–114.3 सेमी	टेम्परेट वन
6.	114.4–203.2 सेमी	वर्षा वाले ट्रॉपीकल वर्षा

वर्षा के कम होने से मृदा में जल की कमी हो जाती है। इस कारण, यहाँ पर मरुस्थल का निर्माण हो जाता है। जिन स्थानों पर वर्षा की अधिक मात्रा होती है, वहाँ पर सदाबहार वनों

(Evergreen forest) का निर्माण हो जाता है। उन प्रदेशों में जहाँ पर शरद ऋतु में वर्षा अधिक होती है वहां पर गर्मी के मौसम में कम वर्षा होती है। ऐसे स्थानों में स्क्लेरोफिलस (Sclerophyllus) वनों का निर्माण हो जाता है। इन वनों में पेड़ों की ऊँचाई कम होती है तथा पेड़ झाड़ी के समान आकार के हो जाते हैं। इन वनों की पत्तियाँ हरी माँसल, चर्मिल होती हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ पर ग्रीष्म ऋतु में वर्षा अधिक होती है, लेकिन सर्दियों में अल्प वर्षा होती है। वहां पर घास के मैदानों का निर्माण हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में पर्याप्त वर्षा होने से स्क्रब वनों (Scrub forest) का निर्माण होता है।

हमारे देश में वर्षा की दृष्टि से काफी असमानता पायी जाती हैं। यही कारण है कि हमारे देश में अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार वर्षा के असमान वितरण के अनुसार वनों में जंगली जानवरों की अलग-अलग प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

प्रश्न–16. तापमान कारक पर एक टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006,07, जीवाजी 2006]

अथवा

पौधों पर तापमान का क्या प्रभाव है? स्पष्ट कीजिये। [भोपाल 2008]

उत्तर– तापमान पौधों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) **उपापचयी क्रियाओं पर प्रभाव–** शरीर में एन्जाइम्स तथा अन्य क्रियायें तापमान पर आधारित होती हैं। श्वसन तथा प्रकाश-संश्लेषण की दर तापमान से प्रभावित होती हैं।

(2) **प्रजनन पर प्रभाव–** तापमान द्वारा पुष्पन क्रिया प्रभावित होती है जिसे तापीय अवधि कहा जाता है।

(3) **वृद्धि तथा परिवर्द्धन पर प्रभाव–** बहुत अधिक तथा बहुत कम तापमान पौधों की वृद्धि पर प्रभाव डालती है।

तापीय स्तरण (Thermal stratification)– 5°C से 22°C के बीच तापमान के कारण पौधों को तीन विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) **एपीलिमनियॉन (Epilimnion)–** इसमें सतह की ऊर्ध्व दिशा में तापमान धीरे-धीरे कम होती हैं।

(2) **मेटालिस नियॉन (Metalimnion)–** यह क्षेत्र एकदम तापमान कम होने वाला कहलाता है।

(3) **हायपोलिमनियॉन (Hypolimnion)–** यह तली वाला क्षेत्र होता है जिस पर तापमान से कोई परिवर्तन नहीं होता।

अत्यधिक तापमान प्रेरित अनुकूलन– पौधों में तथा जन्तुओं में अनेक आकारीय तथा कार्यिकी परिवर्तन उत्पन्न होते हैं–

(1) पौधे तथा जन्तु निम्नतम तथा उच्चतम तापमान पर जीवित रहने के लिये सुरक्षा की भित्ती वाले बीजाणु, सिस्टस, अण्डे या प्यूपा, बीजों का निर्माण करते हैं। जैसे– अमीबा।

(2) कुछ पौधों में कार्यिकी परिवर्तन पाये जाते हैं जिससे उनको परासरण सान्द्रता अधिक हो जाती है तथा प्रशीतन (freezing) नहीं हो पाती।

(3) शुष्क बीजों में तीन सप्ताह तक–190°C पर रखने पर भी अंकुलन नहीं होता।

(4) पक्षियों एवं स्तनियों में तापमान स्थिर होने के कारण ग्रीष्म में जलवाष्प बनकर उड़ता रहता है तथा शरद ऋतु में इनसे फर, पंख तथा वसा इनकी रक्षा करते हैं।

(5) शीत निष्क्रियता तथा ग्रीष्म निष्क्रियता में शीत से सुप्तावस्था रहती है तथा ग्रीष्म ऋतु में जन्तु तथा पौधे अधिक तापमान का प्रतिरोध करते हैं।

(6) जन्तु जब बहुत गर्म तथा ठण्डे स्थानों से बचने के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं तो इसे ऊष्मीय प्रवास कहते हैं जैसे– रीछ, हिरण, पक्षी आदि।

(7) कुछ जन्तुओं में तापमान के प्रभाव से फीनोटिपिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जैसे–डेफीना, ड्रॉसोफिला मेलेनोगेस्टर आदि।

प्रश्न–17. प्रकाश का पौधों की क्रियाशीलता पर क्या प्रभाव पड़ता है? समीक्षा कीजिये।

अथवा

प्रकाश के पौधों पर पड़ने वाले कारक का संक्षेप में वर्णन कीजिये। [सागर 18, भोपाल 15]

अथवा

प्रकाश एवं पादप सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– पौधों की मुख्य क्रियाओं जैसे प्रकाश संश्लेषण, वाष्पोत्सर्जन, पुष्पन आदि पर प्रकाश का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्रकाश की तीव्रता पौधों की अनेक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। वाष्पोत्सर्जन, रन्ध्रों का खुलना, बंद होना, प्रकाश के द्वारा प्रभावित होता है। प्रकाश की कमी के कारण लतायें, अन्य वृक्षों के साथ लिपट कर प्रकाश को प्राप्त करने की कोशिश करती हैं। झाड़ियाँ एवं छोटे आकार के वृक्ष बड़े वृक्षों की छाया में विकसित होते हैं। इन्हें अपेक्षाकृत कम प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है।

प्रकाश की तीव्रता– प्रकाश की तीव्रता का मापन लक्स (Lux) नामक इकाई के द्वारा किया जाता है। ऊँचे पर्वतों पर प्रकाश की तीव्रता अधिक हो जाती है, जबकि समुद्र, गहराई में पाये जाने वाले पौधे कम प्रकाश में विकसित हो सकते हैं। वायुमण्डल में नमी की अधिकता होने पर प्रकाश की तीव्रता मंद हो जाती है। अधिक प्रकाश तीव्रता में उगने वाले पौधों को होलोफाइट्स (Holophytes) कहते हैं। इन पौधों में पत्तियों पर क्यूटिकिल का आवरण होता है तथा पत्तियाँ चमकीली होने के कारण प्रकाश को परावर्तित कर देती हैं। पानी में डूबे हुये पौधों को कम प्रकाश की जरूरत होती है। अधिपादप (Epiphytes) ऊँचे, ऊँचे वृक्षों के ऊपर पाये जाते हैं तथा जिस कारण, उन्हें सहज में प्रकाश उपलब्ध हो जाता है।

प्रकाश की अवधि (Duration of light)– दैनिक प्रकाश एवं अंधेरे का प्रभाव पौधों के पुष्पन (Flowering) पर पड़ता है। जिसे दीप्तिकालिता (Photoperiodism) कहते हैं। दीप्तिकाल के अनुसार पौधों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. **दीर्घ दीप्तिकालिता वाले पौधे (LDP)–** ऐसे पौधों को पुष्पन के लिये दैनिक अवधि से अधिक दीप्तिकाल की आवश्यकता होती है। जैसे- ब्लैक हेनबेन (Black henbane) के पौधे को पुष्पन के लिये एक मौसम में कम से कम 15 घण्टे प्रतिदिन प्रकाश आवश्यक होता है।
2. **अल्प दीप्तिकालिता वाले पौधे (SDP)–** इस प्रकार के पौधों में पुष्पन दैनिक अवधि से कम दीप्तिकाल मिलने पर होता है। जैसे कॉकलेबर (Cocklaber) के पौधों में पुष्पन (Flowering) एक मौसम में 12 घण्टे से कम प्रकाश मिलता है। अतः 12 घण्टे से अधिक प्रकाश मिलने पर उनमें पुष्पन नहीं होता है।
3. **दिवस उदासीन पादप (DNP)–** कुछ पौधों जैसे मक्का, कपास, पान तथा टमाटर को 12 घण्टे प्रकाश तथा 12 घण्टे अंधकार की आवश्यकता पुष्पन के लिये होती है। पारिस्थितिकी में दीप्तिकालिता का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ग्रीन हाउस (green house) में कृत्रिम प्रकाश को एक नियत अवधि देकर कृषि तथा उद्यानों के लिये उपायों पौधों में पुष्पन विकसित किया जा सकता है। इसी विधि द्वारा पौधों में अधिक कायिक वृद्धि की जा सकती है। अतः एक अक्षांश से दूसरे अक्षांशों में कृषि सुगमतापूर्वक की जा सकती है।

फोटोब्लास्टिक बीजों के अंकुरण में प्रकाश की आवश्यकता होती है। जैसे– लेक्टुका (Lectuca), रयूमेक्स (Rumex) आदि में।

प्रकाश एवं पादप सम्बन्ध (Light in relation to plants)– प्रकाश पादप के जीवन को निम्न प्रकार प्रभावित करता है–

1. **क्लोरोफिल का उत्पादन (Production of chlorophyll)**– अधिकांश पौधों को क्लोरोफिल के उत्पादन के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। हरे पौधे प्रकाश की उपस्थिति में क्रिया करके खाद्य निर्माण करते हैं।
2. **तापीय क्रिया (Heating action)**– पादप एवं पादपों के विभिन्न अंग प्रकाश में रहते हैं। जिससे उनका तापमान बढ़ जाता है। इससे समस्त सम्बन्धित क्रियायें प्रभावित होती है।
3. **वाष्पोत्सर्जन दर पर प्रभाव (Effect on transpiration rate)**– प्रकाश के कारण तापमान बढ़ जाता है जिससे वाष्पोत्सर्जन की दर बढ़ जाती है तथा जल अवशोषण दर घट जाती है। उच्च प्रकाश तीव्रता का सम्बन्ध शुष्क आवास एवं उच्च वाष्पोत्सर्जन दर से होता है।
4. **रन्ध्रीय गति (Stomatal movement)**– प्रकाश द्वारा रन्ध्रों का खुलना एवं बन्द होना नियन्त्रित होता है जो वाष्पोत्सर्जन तथा जल अवशोषण से सम्बन्धित होते हैं।
5. **पादपों का वितरण (Distribution of plants)**– पृथ्वी के अन्य भागों की अपेक्षा ध्रुवों पर प्रकाश की दशा भिन्न–भिन्न होती हैं। पृथ्वी की सतह पर प्राप्त प्रकाश विकिरण की मात्रा अक्षांश (latitude) से भिन्न होती है। अतः ध्रुवों तथा पृथ्वी के अन्य भागों में अलग–अलग प्रकार की वनस्पतियां पायी जाती हैं।
6. **पादप अंगों का कुल कायिक परिवर्द्धन (Overall development of plant)**– कुछ पौधों का पारिस्थितिक वर्गीकरण उनके लिये आवश्यक प्रकाश के आधार पर किया जाता है। प्रकाश का प्रभाव पौधों के कायिक अंगों के परिवर्धन पर पड़ता है।

(i) हिलियोफाइट्स (Heliophytes)– इन पौधों में सबसे अधिक वृद्धि पूर्ण प्रकाश की उपस्थिति में होती है।

(ii) शियोफाइट्स (Sciophytes)– इनं पौधों में सर्वोत्तम वृद्धि निम्न प्रकाश तीव्रता में होती है।

जो पौधे अधिक प्रकाश में उगते हैं। उनकी पत्तियाँ उर्ध्व दिशा में विन्यस्त रहती हैं तथा उनके रंगद्रव्यों में अन्तर पाया जाते हैं। नम जलवायु में लम्बे अथवा छोटे वृक्ष, झाड़ियां तथा शाक जैसे पौधे उगते हैं। शुष्क जलवायु में पाइन सोफ्ट मेथिल, विलोज ट्यूलिप वृक्षों तथा जूनीपर्स उगते हैं।

जो पौधे छायादार स्थानों में उगते हैं उनमें उनके कार्यिकीय तथा आकारीय परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे तनों का मोटा होना तथा सुविकसित संवहन ऊतकों का पाया जाना, पर्वो का छोटा होना, अधिक शाखाओं का निकलना, पर्णफलक में छोटी कोशिकाओं का पाया जाना, क्यूटिकिल व कोशिका भित्तियों का मोटा होना, कम तथा छोटे क्लोरोप्लास्ट का पाया जाना, पेलीसेड कोशिकाओं का सुविकसित होना। प्रकाश–संश्लेषण दर का कम होना तथा अधिकता में श्वसन का होना, पुष्पों का शीघ्र विकसित होना आदि।

प्रश्न–18. मृदा–अपरदन से आप क्या समझते हैं? इसे रोकने की प्रमुख विधियों को समझाइये।

अथवा

मृदा–अपरदन क्या है? इसके प्रमुख कारण तथा संरक्षण की विधियाँ समझाइये।

उत्तर– भूमि की ऊपरी सतह में अनेक उपयोगी जीवांश तथा अन्य रासायनिक तत्व पाये जाते हैं और तेज वायु, आँधी, वर्षा, बहता जल या अन्य किन्ही कारणों से यह रासायनिक और जीवांश तत्व एक बार नष्ट हो जाते हैं तो भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है, जिसके कारण वनस्पति पैदा होना असम्भव हो जाता है। अतः इस प्रकार मृदा हानि को मृदा–अपरदन या भूमि–अपरदन कहा जाता है।

मृदा–अपरदन के कारण

(1) **खनिज लवणों की समाप्ति**– भूमि में अनेक प्रकार के खनिज लवण जैसे–पोटेशियम और अमोनियम आदि पाये जाते हैं, किन्तु फसल कटने के उपरांत भूमि में इन लवणों की कमी हो जाती है, जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति भी कम हो जाती है तथा इसके अलावा भूमि में पाये जाने वाले सूक्ष्म जीव जो भूमि में ह्यूमस तैयार करते हैं यदि वे भी नष्ट हो जायें तो भूमि की उर्वरा शक्ति पूर्णतः नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप मृदा–अपरदन होता है।

(2) निक्षालन– जब जल बहुत से उपयोगी खनिज लवणों को घोलकर नीचे की पर्तों में ले जाता है, तो भी भूमि की उर्वरा–शक्ति कम हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मृदा–अपरदन होता है।

(3) **वर्षा की प्रकृति**– मूसलाधार वर्षा होने के कारण भूमि जल को सोख नहीं पाती और वर्षा का सारा जल वाही जल के रूप में बह जाता है तथा यह जल अपने साथ ऊपरी परत सहित अनेक उपजाऊ तत्वों को बहाकर ले जाता है, जिसके कारण मृदा–अपरदन होता है।

(4) **भूमि का ढाल**– अधिक ढालू भूमि पर मृदा का अपरदन अधिक होता है। अतः मैदानों की तुलना में पर्वतीय क्षेत्रों में मिट्टी का क्षरण अधिक होता है।

(5) **अत्यधिक पशुचारण**– पशु जड़–समेत घास को उखाड़ते हैं। इनके खुरों से मिट्टी ढीली पड़ जाती है, जिससे भारी मात्रा में ढालों का अपरदन होता है।

(6) **धरातलीय रचना**– ढीले कण वाली शैलों का अपरदन सरलता व तीव्रता से होता है तथा कठोर शैलों का अपरदन धीमी गति से होता है।

(7) **वायु द्वारा**– रेगिस्तानी स्थानों पर तेज हवा के कारण कुछ मृदा उड़ जाती है, जिसके कारण मृदा–अपरदन होता है।

मृदा–अपरदन के संरक्षण की विधियाँ– मृदा–अपरदन को रोकने के लिये निम्नलिखित उपाय अपनाये गये हैं–

(1) अत्यधिक पशुचारण पर नियंत्रण करना चाहिये, क्योंकि पशुचारण से पशुओं के खुर से मिट्टी ढीली पड़ जाती है। इसलिये चराई के क्षेत्रों पर पूरा नियंत्रण करना चाहिये।

(2) मृदा–अपरदन को रोकने के लिये वृहद पैमाने पर वृक्षारोपण किया जाना चाहिये। इसके अलावा नदियों के जल–ग्रहण क्षेत्र व बाँधों के आसपास, मरुस्थलीय प्रदेशों के सिंचित भागों एवं सभी मार्गों के दोनों ओर वृक्षारोपण किया जाना चाहिये। ऐसा करने से मृदा–अपरदन कम होने के साथ–साथ, बाढ़ों पर नियंत्रण व भूमिगत जलस्रोतों में भी वृद्धि होती है।

(3) फसलों का हेर–फेर करके वैज्ञानिक ढंग से खेती की जानी चाहिये, जिससे भूमि का अपक्षरण न हो सके।

(4) खेतों के चारो ओर मेढ़ बनानी चाहिये तथा टेढ़ी-मेढ़ी खेती की पद्धति को अपनाना चाहिये। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे तालाबों को बनाकर जल के प्रवाह को रोकना चाहिये।

(5) मरुस्थलीय प्रदेशों मे वायु द्वारा अपक्षरण को रोकने के लिये हवा की दिशा के अनुरूप ही पेड़-पौधे अथवा अन्य प्रकार के अवरोध बनाये जाने चाहिये, ताकि हवा से बालू उड़ न पाये। इसके अतिरिक्त बालू मिट्टी में सिंचाई की सुविधा की जानी चाहिये, ताकि नमी के कारण बालू उड़ न सके।

प्रश्न–19. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–

(A) भूमि अवनयन अथवा निम्नीकरण (B) मनुष्यकृत भूस्खलन।

उत्तर– (A) भूमि अवनयन अथवा निम्नीकरण– तीव्रता से बढ़ती जनसंख्या की भोजन तथा अन्य जरूरतों को पूरी करने के लिये भूमि का गहन उपयोग शुरू हुआ। इसके तहत वर्ष में अधिकाधिक फसलें उगाना तथा रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से उपज बढ़ाना प्रमुख है। भूमि का निरन्तर उपयोग करने से उसके जैविक तत्व कम होने लगते हैं तथा मृदा में जैविक एवं अजैविक पदार्थों का सन्तुलन बिगड़ने लगता है। मृदा का उपजाऊपन तेजी से घटता है, परिणामस्वरूप भूमि बंजर होने लगती है। भूमि के निरन्तर सघन उपयोग से उसकी गुणवत्ता या उर्वरता में आने वाली कमी को भूमि का निम्नीकरण या अवनयन कहा जाता है।

भूमि अवनयन के कारण– भूमि निम्नीकरण अथवा अवनयन के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

(1) इसका प्रमुख कारण है निरन्तर लम्बे समय तक सघन कृषि करना।
(2) कीटनाशी रसायनों का बहुतायत से इस्तेमाल करना।
(3) फसलों का हेर-फेर किये बिना एक ही फसल को बार-बार बोना।
(4) मृदा की जाँच किये बिना रासायनिक उर्वरकों का असन्तुलित प्रयोग करना।
(5) अधिक सिंचाई तल जल-भराव से जलक्रान्ति उत्पन्न हो जाना।
(6) अनेक कारणों से होने वाला मृदा का अपरदन होना।
(7) निर्माण कार्यों का मलबा, कूड़ा-करकट, खनिज व औद्योगिक अपशिष्टों का जमाव होना।

(B) मनुष्यकृत भूस्खलन– पर्वतीय ढाल से शिलाखण्डों तथा मृदा पदार्थ के गुरुत्व व नमी के कारण टूटकर नीचे गिरने को भूस्खलन कहा जाता है। सामान्य शब्दों में, किसी भू-भाग के टूटकर नीचे गिरने या फिसलने को भूस्खलन कहा जाता है। इससे जन-धन की अपार हानि होती है। भारत में हिमालय क्षेत्र में जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तरांचल, सिक्किम व असम राज्यों में भूस्खलन की घटनायें देखने को मिलती हैं।

भूस्खलन मुख्यतः एक प्राकृतिक आपदा है, किन्तु अनेक मानवीय क्रिया-कलापों से इसकी आवृत्ति बढ़ी है। वर्षाकाल में पर्वतीय क्षेत्रों में भूस्खलन सामान्य घटना है। निम्नलिखित कारण प्रकृति में हस्तक्षेप करने वाले मानवीय क्रिया-कलाप, भूस्खलन को बढ़ाते हैं–

(1) निर्माण कार्य– पर्वतीय क्षेत्रों में होने वाले विभिन्न निर्माण कार्यों (सड़क, भवन, बाँध आदि) से चट्टानें व मृदा ढीली पड़ जाती हैं जो वर्षाकाल में दबाव बढ़ने से नीचे आ जाती हैं।

(2) बाँधों का निर्माण– कमजोर पर्वतीय भू-स्थलों पर बड़े बाँधों के निर्माण से पार्श्व ढालों पर जल दबाव बढ़ जाता है।

(3) खनन हेतु विस्फोटक– खनन हेतु विस्फोटकों के इस्तेमाल तथा भारी व बड़ी मशीनों की कम्पन से मृदा तह व शिलाखण्ड स्थान छोड़ देते हैं।

(4) मलबा तथा खनिज– विभिन्न निर्माण कार्यों का मलबा व खनिज अवशिष्ट जिसे पहाड़ी ढालों पर छोड़ दिया जाता है, वर्षाकाल में भू-स्खलन का कारण बनता है।

(5) वनों की कटाई तथा अति पशुचारण– वनों की कटाई तथा अतिपशुचारण से पर्वतों के पार्श्व नग्न हो गये हैं। वनस्पति की संरक्षण परत के अभाव में जल का तीव्र प्रवाह भू-अपरदन व भूस्खलन बढ़ाता है।

प्रश्न–20. परती भूमि के सुधार एवं विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

उत्तर– परती भूमि एवं उसका विकास (Waste land and Its Development)– भूमि एक प्राकृतिक सम्पदा है, जिससे हमारी खाद्य, ईंधन, काष्ठ, रेशा, चारा एवं अन्य आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ति होती है, और इसके लिये भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक होता है परन्तु आज बढ़ती हुई आबादी एवं औद्योगिकीकरण के कारण यही मृदा प्रदूषित होती जा रही है, जिसके परिणामस्वरूप पेड़-पौधे नष्ट होते जा रहे हैं, जिसके कारण भारत के भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 50% भाग अवनति की ओर बढ़ चुका है। अतः "ऐसी भूमि जो विभिन्न कारणों से अवनति को प्राप्त हो चुकी है तथा वर्तमान में उपयोग योग्य नहीं हो परती भूमि कहलाती है।" अन्य के शब्दों में, "ऐसी भूमि जो विभिन्न कारणों से अपनी उचित उत्पादकता को खो चुकी है तथा जिस पर उत्पादन व्यय उससे प्राप्त होने वाले लाभ से अधिक होता है, परती भूमि कहलाती है।"

परती भूमि के प्रकार (Types of waste land)– परती भूमि को उसकी उपयोगिता के आधार पर पाँच भागों में बाँटा गया है–

(1) कृषि-अयोग्य परती भूमि
(2) क्षारित परती भूमि – जलक्षारित, वायुक्षारित एवं समुद्रतटीय भूमि।
(3) समस्याग्रस्त भूमि – कंकरीली, ऊसर, जलाकृति तथा पथरीली भूमि।
(4) निकृष्टीकृत भूमि – सड़क किनारे की भूमि, रेल्वे लाइन के किनारे की भूमि, चरागाह तथा तालाब के किनारे की भूमि।
(5) सीमान्त और अर्धसीमान्त भूमि

राष्ट्रीय परती भूमि मण्डल तथा योजना आयोग द्वारा गठित समिति के अनुसार परती भूमि निम्न प्रकार की होती है–

(1) कृषि-अयोग्य परती भूमि
(2) कृषि-योग्य परती भूमि
(3) जल-मार्गों एवं खड्ड भूमि
(4) रेतीली भूमि
(5) खनन एवं औद्योगिक परती भूमि
(6) सतही जलाक्रान्त तथा कच्छ भूमि
(7) पट्टियों की भूमि- सड़क, रेल्वे, नहर के पास की भूमि

परती भूमि बनने के कारण

(1) भूमि या मृदा-अपरदन (Soil Erosion)– प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक प्रयोग के कारण मृदा-अपरदन (soil erosion) प्रक्रिया तेजी से होने लगती है। इसके अलावा

औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के कारण भी बहुत सी उपजाऊ भूमि नष्ट होती जा रही है। वनस्पतियों के कटने के कारण भी मृदा अपरदन तेजी से बढ़ रहा है, जिसके परिणामस्वरूप भूमि की ऊपरी सतह पर पायी जाने वाली उपजाऊ मिट्टी बाढ़ एवं वर्षा के पानी के साथ अन्य स्थानों पर बहकर चली जाती है, जिसके कारण भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और मरुस्थलों का निर्माण होता है। इसलिये हमारे देश मे राजस्थान मे मरुस्थल इसी घटना का दुष्परिणाम है। मृदा अपरदन के दुष्प्रभाव मुख्य रूप से भारत, पाकिस्तान, अमेरिका, अफ्रीका, उत्तरी चायना व मेसोपोटामिया मे देखने को मिलते हैं। मृदा अपरदन को कम करने या रोकने के लिये राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रयास किये जा रहे हैं। इसके लिये जैविक एवं प्रौद्योगिकी विधियों का उपयोग किया जा रहा है, किन्तु मृदा अपरदन की क्रिया पर पूर्ण नियंत्रण पाना असम्भव हो रहा है।

(2) **फसल चक्रण न अपनाना**– भूमि की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिये यह आवश्यक होता है कि वहाँ पर लगातार एक ही फसल न बोई जाये, क्योंकि लगातार एक ही फसल बोने पर भी भूमि की उर्वरा शक्ति समाप्त हो जाती है।

(3) **जल का समुचित विकास न होना**– जिस भूमि पर लगातार जल भरा रहता है, वह भूमि दलदली एवं जलाकृति बन जाती है, जिससे उसकी उर्वरा शक्ति समाप्त हो जाती है। अतः ऐसी भूमि का समुचित उपयोग न होने से वह परती हो जाती है।

(4) **अतिचारण (Overgrazing)**– वन भूमि पर विभिन्न प्रकार के जानवरों व पशुओं द्वारा अत्यधिक चराई के कारण भी भूमि परती हो जाती है। अतः साथ–साथ चरागाहों का समुचित प्रबंध न होने के कारण भी परती भूमि का विकास होता है।

(5) **स्थानान्तरण कृषि (Shifting Cultivation)**– आजकल फसली भूमि के विकास के लिये जंगलों को काटकर उन्हें जला दिया जाता है और उस भूमि पर खेती की जाती है और चार–पाँच वर्षों में जब इस भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है तो इसे छोड़कर दूसरे स्थानों पर पुनः कृषि भूमि तैयार की जाती है।

(6) **नहरों द्वारा सिंचाई**– नहरों द्वारा सिंचाई करने तथा नहरों में लगातार जल होने से आसपास स्थित भूमि का जलस्तर ऊँचा उठ जाता है और जल में उपस्थित लवण भूमि की सतह पर जमा हो जाते हैं। फलस्वरूप भूमि क्षारीय हो जाती है। ऐसी भूमि ऊसर भूमि में परिवर्तित हो जाती है।

(7) **भूमि पर वृक्षों तथा वनस्पतियों का अभाव होने के कारण।**

(8) **अवांछनीय खरपतवारों की संख्या में वृद्धि एवं जमाव के कारण।**

(9) **खनन कार्य एवं औद्योगिक कार्यों में वृद्धि के कारण।**

परती भूमि का विकास या सुधार (Development or improvement of waste land)– सन् 1985 में भारत सरकार ने परती भूमि के विकास के लिये राष्ट्रीय परती विकास मण्डल (National waste land development Board) की स्थापना की है। इसे जनसहयोग से वृक्षारोपण व वनीकरण के व्यापक कार्यक्रमों के माध्यम से परती भूमियों के विकास की जिम्मेदारी सौंपी थी। अतः पिछले वर्षों में किये गये कार्यों की समीक्षा के पश्चात् 5 अक्टूबर, 1989 को परती भूमि विकास मिशन की स्थापना की गयी है। इस मिशन के कार्यक्रमों के मूल आधार इस प्रकार हैं–

(1) तात्कालिकता की भावना जाग्रत करना।

(2) नीति–विषयों से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण के लिये एक क्रियात्मक तंत्र की स्थापना करना।

(3) परती भूमि के विकास हेतु जन–आंदोलन को बढ़ाने के लिये कार्यनीतियाँ तैयार करना।

(4) वित्तीय और संस्थागत संसाधनों को सम्मिलित करना।

(5) विकासीय प्रबंध को प्रभावशाली बनाना।

उद्देश्य– परती भूमि के उद्देश्य इस प्रकार हैं–

(1) भूमि की अधोगति को रोकना।

(2) पारिस्थितिक संतुलन बनाये रखना।

(3) परती भूमि को जीवन–निर्वाह योग्य कार्यों में उपयोग में लाना।

(4) ईंधन, काष्ठ, फल तथा चारे की प्राप्ति के लिये हरीतिमा संवर्धन करना।

कार्य नीतियाँ–

(1) जल–स्रोत के आधार पर एकीकृत व समन्वित भूमि उपयोग की आयोजना तैयार करना।

(2) ग्राम–स्तरीय कार्य योजना तैयार करना।

परती भूमि के सुधार के लिये विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) **लवणीय व क्षारीय भूमि का सुधार**– लवणीय एवं क्षारीय भूमि में सुधार लाने हेतु दो विधियाँ अपनाई जाती हैं– (i) लवण सहनीय पौधों का रोपण (ii) रासायनिक उपचार।

रासायनिक उपचार हेतु जिप्सम लवण का उपयोग किया जाता है। इसके अलावा गोबर की खाद का उपयोग भी लाभकारी होता है।

(2) **क्षारित भूमि (Eroded Land)**– इसका निर्माण जल एवं वायु द्वारा होता है अतः ऐसी परती भूमि के सुधार के लिये कृषि क्रियाओं, भौतिक क्रियाओं (जैसे– सीढ़ियाँ बनाना, मेड़ बनाना) एवं वृक्षारोपण का सहारा लिया जाता है। इसके अलावा यहाँ पर सुरक्षा बेल्ट्स तथा वायु अवरोधों को लगाना चाहिये।

(3) **जलाक्रान्त भूमि का सुधार**– इसके लिये जो प्रबंध किये जाते हैं, वे निम्नानुसार हैं–

(i) जलाक्रान्त क्षेत्रों में उगने वाले वृक्षों का ही रोपण किया जाना चाहिये।

(ii) नहरों द्वारा सिंचाई कम करके ट्यूबवैल द्वारा सिंचाई करनी चाहिये।

(iii) ऊँचे व ढलान वाले क्षेत्रों में सीढ़ीदार खेती करनी चाहिये।

(iv) जल की निकासी के लिये उपयुक्त प्रबंध किया जाना चाहिये।

(v) नदियों के किनारे की परती भूमि के सुधार के लिये समतलीकरण तथा किनारों पर उपयुक्त वृक्षों का रोपण करना चाहिये।

प्रश्न–21. तापकालिता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006 जबलपुर 18]

अथवा

तापकालिता से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिये। [भोपाल 2008,14]

उत्तर– तापकालिता (Thermoperiodism)– जीवधारियों के समान पौधों में भी तापमान के प्रभाव को स्पष्ट किया जा सकता है जब उत्तरध्रुवीय वनस्पति की तुलना ऊष्णकटिबंधीय (Tropical) वनस्पति से की जाती है। पौधों में ग्रीष्मकाल में सक्रिय वृद्धि एवं प्रजनन होता है जबकि शीतोष्ण प्रदेश के पादपों में शरदऋतु में सुप्तावस्था पायी जाती है।

जीवित कोशिकाओं की प्रजनन सहित सभी क्रियायें, तापमान से प्रभावित होती है। जिसके फलस्वरूप तापमान समान रूप से चालित परिस्थितिकीय कारक कहलाता है। जो किसी स्थान की वनस्पति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। तापमान पृथ्वी पर पादपों के वितरण को निर्धारित करने के लिये बहुत महत्वपूर्ण होता है।

अतः पृथ्वी की सम्पूर्ण वनस्पति को निम्न प्रकार चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) मेगाथर्म्स (Megatherms)– इस प्रकार के पौधों को लगभग स्थिर उच्च तापमान की वर्ष भर उनके अधिकतम परिवर्धन एवं वृद्धि के लिये आवश्यकता होती है। इस प्रकार के पौधे ऊष्ण कटिबन्धीय प्रदेश में उगते हुये पाये जाते हैं।

(ii) मध्यतापीय (Mesotherms)– यह पौधे निम्न तापमान को वर्ष के कुछ समय तक सहन करते हैं। विश्व के उष्ण कटिबन्धीय तथा उप- उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों के अनेक पौधों को इस क्लास में सम्मिलित किया जा सकता है।

(iii) माइक्रोथर्म्स (Microtherms)– पृथ्वी के शीतोष्ण प्रदेशों के पौधों को अपने परिवर्द्धन एवं वृद्धि के लिये निम्न तापमान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के पौधे उच्च तापमान में जीवित नहीं रह सकते हैं।

(iv) हिकिस्टोथर्म्स (Hekistotherms)– इस प्रकार के पौधे केवल आर्कटिक एवं एल्पाइन प्रदेशों तक ही सीमित रहते हैं। इन प्रदेशों की ऊंचाई 4,800 से 3,600 मीटर होती है। इसके पौधों के लिये निम्न तापमान की आवश्यकता होती है। यह पौधे लम्बे तथा सबसे अधिक ठण्डे, शीत ऋतु के महीनों में बिना किसी स्थाई चोट के रह सकते हैं।

पादपों में उच्च तापमान में होने वाली चोंट को रोकने के लिये निम्न प्रमुख अनुकूलन पाये जाते हैं–

1. वाष्पोत्सर्जन की उच्च दर जो पत्तियों को ठण्डा करती है।
2. सूर्य की किरणों के लिये समकोण में लगी पत्तियों का पर्ण फलकों का खड़ा विन्यास।
3. छाल द्वारा फ्लोएम तथा कैम्बियम का रोधी होना।
4. कम नमी अवयवों वाला जीवद्रव्य।
5. पत्तियों की सतह पर सफेद पपड़ी का पाया जाना जो सूर्य की किरणों को परावर्तित करती हैं नहीं तो ताप अवशोषण से इनका तापमान बढ़ जाता है।

प्रश्न–22. हेलियोफाइट्स व सियोफाइट्स में आकारिकीय, शारीरिकीय व कार्यकीय लक्षणों में विभिन्नताओं का वर्णन कीजिये।

अथवा

हेलियोफाइट्स एवं सियोफाइट्स में तुलना कीजिये। [सागर 2008,18]

उत्तर– हेलियोफाइट्स व सियोफाइट्स में अन्तर–

(Difference between Heliophytes and Sciophytes)–

आकारिकीय लक्षण (Morphological characters)–

हेलियोफाइट्स	सियोफाइट्स
1. इनके तने की वृद्धि ह्रासित हो जाती है तथा इन्टरनोड छोटे रह जाते हैं।	1. तने की वृद्धि सामान्य होती है तथा इन्टरनोड बड़े होते हैं।
2. तने मोटे होते हैं जिनमें यांत्रिक ऊतक तथा संवहन ऊतक पूर्ण विकसित होते हैं।	2. इनके तने पतले होते हैं जिनमें यांत्रिक ऊतक तथा संवहन ऊतक बहुत कम विकसित होता है।
3. इनकी जड़े शाखित लम्बी, संकरी व मोटी होती हैं।	3. इनमें जड़ों की संख्या कम होती है।
4. पत्तियाँ संकरी, रेखीय मोटी तथा कठोर संरचना युक्त होती हैं।	4. इनकी पत्तियाँ पतली, बड़ी, चौड़ी तथा लम्बी होती हैं।
5. इनकी पत्तियाँ चमकीली होने के कारण प्रकाश का परावर्तन करती हैं।	5. इनकी पत्तियाँ मखमली होती हैं जो प्रकाश की तिरछी किरणों को एकत्र करती हैं।
6. इनकी पत्तियाँ रोमों से ढंकी होती है।	6. इनकी पत्तियों पर कम रोम पाये जाते हैं तथा वह चिकनी होती है।

शारीरिकीय लक्षण (Anatomical characters)

7. इनकी क्यूटिकिल मोटी होती है।	7. क्यूटिकिल पतला होता है।
8. इनकी एपीडर्मिश मोटी होती है।	8. एपीडर्मिश पतली होती है।
9. इनकी ऊपरी एपीडर्मिश में क्लोरोफिल अनुपस्थित होता है।	9. इनकी ऊपरी एपीडर्मिश में क्लोरोफिल होता है।
10. निचली सतह पर रन्ध्र पास-पास तथा छोटे होते हैं।	10. इसकी मीजोफिल कोशिकायें बड़े आकार की होती हैं।
11. पत्ती की दोनों सतहों की ओर पेलीसेड व पेरिन्काइमा सुविकसित होता है।	11. इनका पेलिसेड बहुत कम विकसित होता है।
12. इनका स्पंजी ऊतक बहुत कम विकसित होता है।	12. इनका स्पंजी ऊतक पूर्ण विकसित होता है।
13. अन्तरकोशिकीय अवकाश छोटे होते हैं।	13. यह बड़े आकार के होते हैं।
14. क्लोरोप्लास्ट छोटे तथा संख्या में कम होते हैं।	14. यह बड़े तथा अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

कार्यिकीय लक्षण (Physiological features)

15. इसकी प्रति इकाई क्षेत्रफल प्रकाश संश्लेषण दर कम होती है।	15. प्रकाश संश्लेषण की दर अधिक होती है।
16. श्वसन दर अधिक होती है।	16. श्वसन दर कम होती है।
17. पुष्पन पूर्व होने लगता है।	17. पुष्पन देर से होता है।

प्रश्न–23. तापमान कारक का संक्षेप में वर्णन कीजिये। [जीवाजी 2008]

अथवा

पौधों एवं जन्तुओं पर ताप के प्रभाव का वर्णन कीजिये।

उत्तर– सामान्यतः यह देखा गया है कि पेड़ पौधों की वृद्धि 29-30°C तापमान पर अच्छी होती है। पौधों में 50°C पर भी क्रियाशीलता ही रहती है। इस दौरान उनमें वाष्पोर्त्सन तीव्रता से होता है। यदि किसी कारणवश, उन्हें पर्याप्त जल प्राप्त नहीं हो पाता तो उनकी पत्तियाँ मुरझा जाती हैं और यदि यही अवस्था काफी समय तक बनी रहती है तो पत्तियाँ सूख जाती हैं। ठण्डे स्थानों पर पाये जाने वाले पौधों में वाष्पोत्सर्जन की क्रिया मंद गति से होती है। यहाँ पर पौधों को तुषार या पाले के द्वारा क्षति पहुँच सकती है। घने जंगलों में वाष्पोत्सर्जन

की क्रिया की अधिकता के कारण यहाँ पर आर्द्रता अधिक होती है। इसमें यहाँ पर फर्न, मॉस, लिवरवर्टस् आदि क्रिप्टोगेम्स समूह के पौधे विकसित हो जाते हैं।

पौधों एवं जन्तुओं पर ताप का प्रभाव– तापमान पौधों पर निम्न प्रभाव डालता है–

1. **उपापचयी क्रियाओं पर प्रभाव**– अनुकूलतम ताप पर एन्जाइमी तथा अन्य जीव रसायन क्रियायें ठीक तरह से चलती हैं। शरीर में पाये जाने वाले एन्जाइम्स सक्रिय बने रहते हैं। इसमें उनमें श्वसन एवं प्रकाश संश्लेषण की क्रिया ये ठीक तरह से सम्पन्न होती हैं। कम एवं अधिक तापमान एन्जाइम्स की क्रियाशीलता, श्वसन तथा प्रकाश संश्लेषण की क्रिया को प्रभावित कर देता है। कम तापमान में बीजों का अंकुरण एवं पौधे की वृद्धि मन्द गति से होती है।
2. **प्रजनन पर प्रभाव**– पौधों में पुष्पन की क्रिया के लिये विशेष तापमान की आवश्यकता होती है। इसे तापीय अवधि (Thermoperiodism) कहते हैं। यह तापमान पुष्पीय पौधों की जातियों में अलग–अलग होता है।
3. **वृद्धि एवं परिवर्धन पर प्रभाव**– बहुत अधिक एवं कम तापमान पर पौधों की वृद्धि प्रभावित होती है। बहुत कम तापमान के होने पर पौधों की कोशिकाओं में जल बर्फ में बदल जाता है। इससे कोशिकाओं के आकार में वृद्धि हो जाती है तथा कोशिकायें फट जाती हैं। गम्भीर पाले की अवस्थाओं में अरहर व अन्य फसलें चट–चट की आवाज कर फट जाती हैं। इससे सम्पूर्ण फसल ही क्षतिग्रस्त हो जाती है अधिक तापमान के होने पर पौधों की कोशिकाओं के जीवद्रव्य की संरचना में परिवर्तन आ जाता है तथा यह निष्क्रिय हो जाता है। ऐसा होने से कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं तथा पौधा कम तापमान के कारण सूख कर मृत हो जाता है।
4. **क्रॉसिंग ओवर की क्रिया पर प्रभाव**– प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि तापमान ड्रोसोफिला मक्खी में क्रोसिंग ओवर की क्रिया को प्रभावित करता है। इससे उसकी आगामी सन्ततियों के पंख और आँखों के परिवर्धन में अन्तर आ जाता है।

प्रश्न–24. प्रकाश का पौधों की क्रियाशीलता पर क्या प्रभाव पड़ता है? समीक्षा कीजिये।

अथवा

प्रकाश के पौधों पर पड़ने वाले कारक का संक्षेप में वर्णन कीजिये।[सागर 05 भोपाल 05,18]

अथवा

प्रकाश एवं पादप सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये। [उज्जैन 2001,14 जबलपुर 2003,15]

उत्तर– पौधों की मुख्य क्रियाओं जैसे प्रकाश संश्लेषण, वाष्पोत्सर्जन, पुष्पन आदि पर प्रकाश का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्रकाश की तीव्रता पौधों की अनेक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। वाष्पोत्सर्जन, रन्ध्रों का खुलना, बंद होना, प्रकाश के द्वारा प्रभावित होता है। प्रकाश की कमी के कारण लतायें, अन्य वृक्षों के साथ लिपट कर प्रकाश को प्राप्त करने की कोशिश करती हैं। झाड़ियाँ एवं छोटे आकार के वृक्ष बड़े वृक्षों की छाया में विकसित होते हैं। इन्हें अपेक्षाकृत कम प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है।

प्रकाश की तीव्रता– प्रकाश की तीव्रता का मापन लक्स (Lux) नामक इकाई के द्वारा किया जाता है। ऊँचे पर्वतों पर प्रकाश की तीव्रता अधिक हो जाती है, जबकि समुद्र, गहराई में पाये जाने वाले पौधे कम प्रकाश में विकसित हो सकते हैं। वायुमण्डल में नमी की अधिकता होने पर प्रकाश की तीव्रता मंद हो जाती है। अधिक प्रकाश तीव्रता में उगने वाले पौधों को होलोफाइट्स (Holophytes) कहते हैं। इन पौधों में पत्तियों पर क्यूटिकिल का आवरण होता है तथा पत्तियाँ चमकीली होने के कारण प्रकाश को परावर्तित कर देती हैं। पानी में डूबे हुये

पौधों को कम प्रकाश की जरूरत होती है। अधिपादप (Epiphytes) ऊँचे, ऊँचे वृक्षों के ऊपर पाये जाते हैं तथा जिस कारण, उन्हें सहज में प्रकाश उपलब्ध हो जाता है।

प्रकाश की अवधि (Duration of light)– दैनिक प्रकाश एवं अंधेरे का प्रभाव पौधों के पुष्पन (Flowering) पर पड़ता है। जिसे दीप्तिकालिता (Photoperiodism) कहते हैं। दीप्तिकाल के अनुसार पौधों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. **दीर्घ दीप्तिकालिता वाले पौधे (LDP)**– ऐसे पौधों को पुष्पन के लिये दैनिक अवधि से अधिक दीप्तिकाल की आवश्यकता होती है। जैसे– ब्लैक हेनबेन (Black henbane) के पौधे को पुष्पन के लिये एक मौसम में कम से कम 15 घण्टे प्रतिदिन प्रकाश आवश्यक होता है।
2. **अल्प दीप्तिकालिता वाले पौधे (SDP)**– इस प्रकार के पौधों में पुष्पन दैनिक अवधि से कम दीप्तिकाल मिलने पर होता है। जैसे कॉकलेबर (Cocklaber) के पौधों में पुष्पन (Flowering) एक मौसम में 12 घण्टे से कम प्रकाश मिलता है। अतः 12 घण्टे से अधिक प्रकाश मिलने पर उनमें पुष्पन नहीं होता है।
3. **दिवस उदासीन पादप (DNP)**– कुछ पौधों जैसे मक्का, कपास, पान तथा टमाटर को 12 घण्टे प्रकाश तथा 12 घण्टे अंधकार की आवश्यकता पुष्पन के लिये होती है। पारिस्थितिकी में दीप्तिकालिता का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ग्रीन हाउस (green house) में कृत्रिम प्रकाश को एक नियत अवधि देकर कृषि तथा उद्यानों के लिये उपायों पौधों में पुष्पन विकसित किया जा सकता है। इसी विधि द्वारा पौधों में अधिक कायिक वृद्धि की जा सकती है। अतः एक अक्षांश से दूसरे अक्षांशों में कृषि सुगमतापूर्वक की जा सकती है।

फोटोब्लास्टिक बीजों के अंकुरण में प्रकाश की आवश्यकता होती है। जैसे– लेक्टुका (Lectuca), रयूमेक्स (Rumex) आदि में।

प्रकाश एवं पादप सम्बन्ध (Light in relation to plants)– प्रकाश पादप के जीवन को निम्न प्रकार प्रभावित करता है–

1. **क्लोरोफिल का उत्पादन (Production of chlorophyll)**– अधिकांश पौधों को क्लोरोफिल के उत्पादन के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। हरे पौधे प्रकाश की उपस्थिति में क्रिया करके खाद्य निर्माण करते हैं।
2. **तापीय क्रिया (Heating action)**– पादप एवं पादपों के विभिन्न अंग प्रकाश में रहते हैं। जिससे उनका तापमान बढ़ जाता है। इससे समस्त सम्बन्धित क्रियायें प्रभावित होती है।
3. **वाष्पोत्सर्जन दर पर प्रभाव (Effect on transpiration rate)**– प्रकाश के कारण तापमान बढ़ जाता है जिससे वाष्पोत्सर्जन की दर बढ़ जाती है तथा जल अवशोषण दर घट जाती है। उच्च प्रकाश तीव्रता का सम्बन्ध शुष्क आवास एवं उच्च वाष्पोत्सर्जन दर से होता है।
4. **रन्ध्रीय गति (Stomatal movement)**– प्रकाश द्वारा रन्ध्रों का खुलना एवं बन्द होना नियन्त्रित होता है जो वाष्पोत्सर्जन तथा जल अवशोषण से सम्बन्धित होते हैं।
5. **पादपों का वितरण (Distribution of plants)**– पृथ्वी के अन्य भागों की अपेक्षा ध्रुवों पर प्रकाश की दशा भिन्न–भिन्न होती हैं। पृथ्वी की सतह पर प्राप्त

प्रकाश विकिरण की मात्रा अक्षांश (latitude) से भिन्न होती है। अतः ध्रुवों तथा पृथ्वी के अन्य भागों में अलग-अलग प्रकार की वनस्पतियां पायी जाती हैं।

6. **पादप अंगों का कुल कायिक परिवर्द्धन (Overall development of plant)**– कुछ पौधों का पारिस्थितिक वर्गीकरण उनके लिये आवश्यक प्रकाश के आधार पर किया जाता है। प्रकाश का प्रभाव पौधों के कायिक अंगों के परिवर्धन पर पड़ता है।

(i) **हिलियोफाइट्स (Heliophytes)**– इन पौधों में सबसे अधिक वृद्धि पूर्ण प्रकाश की उपस्थिति में होती है।

(ii) **शियोफाइट्स (Sciophytes)**– इन पौधों में सर्वोत्तम वृद्धि निम्न प्रकाश तीव्रता में होती है।

जो पौधे अधिक प्रकाश में उगते हैं। उनकी पत्तियाँ उर्ध्व दिशा में विन्यस्त रहती हैं तथा उनके रंगद्रव्यों में अन्तर पाया जाते हैं। नम जलवायु में लम्बे अथवा छोटे वृक्ष, झाड़ियां तथा शाक जैसे पौधे उगते हैं। शुष्क जलवायु में पाइन सोफ्ट मेथिल, विलोज ट्यूलिप वृक्षों तथा जूनीपर्स उगते हैं।

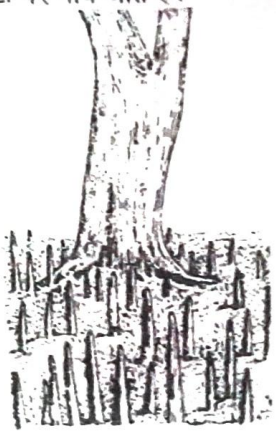
जो पौधे छायादार स्थानों में उगते हैं उनमें उनके कार्यिकीय तथा आकारीय परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे तनों का मोटा होना तथा सुविकसित संवहन ऊतकों का पाया जाना, पर्वो का छोटा होना, अधिक शाखाओं का निकलना, पर्णफलक में छोटी कोशिकाओं का पाया जाना, क्यूटिकिल व कोशिका भित्तियों का मोटा होना, कम तथा छोटे क्लोरोप्लास्ट का पाया जाना, पेलीसेड कोशिकाओं का सुविकसित होना। प्रकाश-संश्लेषण दर का कम होना तथा अधिकता में श्वसन का होना, पुष्पों का शीघ्र विकसित होना आदि।

प्रश्न–25. लवणता तथा लवणोभिद पौधों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006]

अथवा

पितृस्थ अंकुरण से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिये। [भोपाल 2008,12,15]

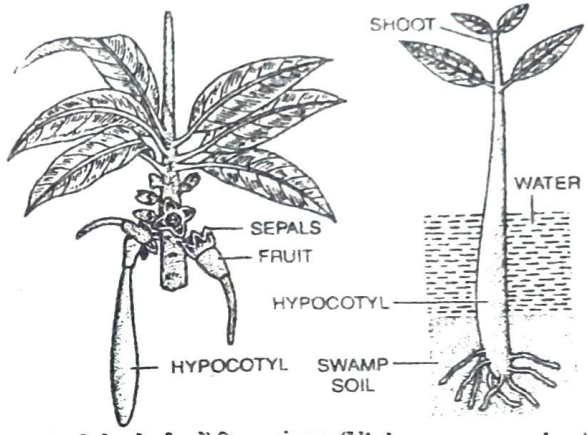
उत्तर– लवणता (Salinity)– लवणीय मृदा में पेड़ पौधे बहुत कम मात्रा में पाये जाते हैं। ये विशेष प्रकार के मरुद्भिद पौधे होते हैं, क्योंकि इस मृदा में NaCl, $MgCl_2$ तथा $MgSO_4$ लवणों की सान्द्रता अधिक होती है। यह मृदा कार्यिकी रूप से शुष्क होती है तथा उसका परासरण दाब का मान अधिक होता है। मैनग्रूव पौधे जैसे राइजोफोरा म्यूक्रोनेटा (Rhizophora mucronata) तथा सोनेरेशिया (Sonneratia) जैसे पौधे भारत में सुन्दरवन केरला तथा अण्डमान निकोबार के तटों पर पाये जाते हैं।



चित्र– लवणोद्भिद पौधों की श्वसन मूलें

लवणोद्भिद पौधों के मुख्य लक्षण–

(1) इनकी पत्तियाँ चमकदार होती हैं।
(2) इनमें श्वसन मूल न्यूमेटोफर (pneumatophore) पाये जाते हैं।
(3) इनकी पत्तियों में रन्ध्र धंसे हुये पाये जाते हैं।
(4) कॉर्टेक्स में गुहिकायें (Air spaces) पाई जाती हैं।
(5) इनमें पितृस्थ अंकुरण (viviparous germination) होता है।



चित्र– राइजोफोरा के बीज में पितृस्थ अंकुरण (Viviparous germination)

पितृस्थ अंकुरण (Viviparous germination)– यह अंकुरण राइजोफोरा में पाया जाता है। इनके बीजों में सुप्तावस्था नहीं होती तथा बीजों का अंकुरण तभी शुरू हो जाता है जब फल पेड़ पर लगे हुये होते हैं। राइजोफोरा में बीज का मूलांकुर जब काफी बढ़ जाता है तब फल-भित्ति को फाड़कर बाहर निकल आता है। कुछ समय बाद यह फल से विलग होकर तीर की तरह दलदली भूमि में धँस जाता है तथा इसमें से पार्श्व जड़ें निकल जाती हैं। प्रांकुर बढ़ता है तथा एक नया पौधा उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न–26. बसन्तीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [जीवाजी 2007,12,15,18]

अथवा

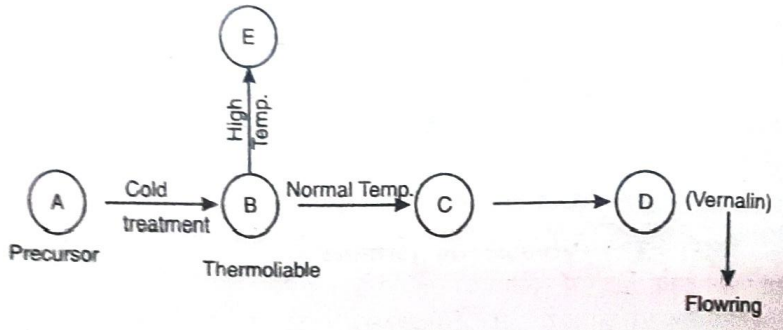
बसन्तीकरण के महत्व का संक्षेप में वर्णन कीजिये। [उज्जैन 2001,12 जबलपुर 03,11,18]

अथवा

बसन्तीकरण की जैव रासायनिक क्रियाविधि का वर्णन कीजिये। [भोपाल 2008,11,14]

उत्तर– थॉमसन (Thomson, 1936) के अनुसार, बसन्तीकरण वह क्रिया है। जिसके अन्तर्गत बीजों को बोने से पूर्व एक विशेष तापमान पर रखा जाता है और उसमें पुष्पन की क्रिया का अध्ययन किया जाता है। रूसी वैज्ञानिकों के अनुसार इस क्रिया को यारोबाईजेशन , (Yarovization) कहते हैं। रूसी वैज्ञानिकों लाइसेंको (Lysenko, 1934) ने बसन्तीकरण क्रिया के सम्बन्ध में एक उल्लेखीय मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि पौधों में वृद्धि अनेक क्रमों (series) में होती है। जिसमें अलग-अलग अवस्थायें (Phases) होती हैं। लैंगिक प्रजनन के प्रारम्भ होने से पूर्व की अवस्था बसन्तीकरण अवस्था कहलाती है। इसे प्रभावी बनाने के लिये इस अवस्था में पौधों को 0°C से 20°C तक उपचारित किया जाता है और फिर इसके पश्चात् इन पौधों को खेतों में बो दिया जाता है। जिससे इन पौधों के पुष्पन पर प्रभाव पड़ता है।

बसन्तीकरण की क्रियाविधि– आधुनिकाल में विभिन्न वैज्ञानिकों ने बसन्तीकरण की क्रिया पर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। और इन वैज्ञानिकों के अनुसार यह बतलाया गया है कि बसन्तीकरण की क्रिया मे बरनेलिन नामक हार्मोन बनता है। जो पौधों में शीघ्र पुष्पीकरण के लिये आवश्यक होता है जबकि कुछ अन्य वैज्ञनिकों के अनुसार इस क्रिया में जिबरेलिन नामक हॉर्मोन बनता है। ये दोनों ही हॉर्मोन बसंतीकरण क्रिया मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लैंग एवं मैल्चर्स (Lang and Melchers, 1947) ने बसंतीकरण की क्रियाविधि को समझाने के लिये हॉर्मोनिल सिद्धान्त (Hormonal theory) प्रस्तावित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार, पौधों में एक पदार्थ A बनता है, जिसे प्रिकर्सर कहते हैं। जो कि ताप सहिष्णु (Thermoliable) होता है। तथा यह पदार्थ A शीतोपचार (Cold treatment) के बाद अन्य पदार्थ B में बदल दिया जाता है सामान्य अवस्था में B,C नामक यौगिक में बदल जाता है जो कि पुष्पन हॉर्मोन 'D' वरनेलिन का निर्माण करता है। जिससे पौधों में पुष्पन की क्रिया होती है। किन्तु तापमान अधिक होने पर B पदार्थ E नामक यौगिक में परिवर्तित हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप पुष्पन क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। इसे डिवर्नेलाइजेशन कहते हैं।



यदि हम सामूहिक रूप से देखें तो हम संक्षिप्त में कह सकते हैं कि– तापमान उपचारण के पश्चात बीजों को मिट्टी में बोया जाता है, मिट्टी में यह बीज जल का अवशोषण करते हैं और अंकुरण प्रारम्भ करते हैं। जिससे बीज कवच फट जाता है और मूलांकुर (Radicle) और प्रांकुर (Plumule) उत्पन्न होकर क्रमशः जड़ व तने का निर्माण करते है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऐनल, 1938 के अनुसार, शरद ऋतु में बोयी जाने वाली गेहूँ की किस्मों को यदि कम तापमान पर उपचारित किया जाये तो इसमें बसन्तीकरण हो जाता है। इजसके परिणामस्वरूप गेहूँ के पौधों में बसंत ऋतु में पुष्प उत्पन्न हो जाते हैं।

ग्रिगोरी (Gregory, 1948) ने बताया कि कम तापमान पर बीजों को उपचारित करने से एक हॉर्मोन बनता है जिसके द्वारा बसन्तीकरण के फलस्वरूप शीघ्र पुष्पन होने लगता है।

बसन्तीकरण का महत्व–

(1) बसन्तीकरण के प्रभाव से एक वर्षीय पौधे समय से पूर्व ही पुष्पन करने लगते हैं। उसी प्रकार द्विवर्षीय पौधे एक ही वर्ष में पुष्पन करने लगते हैं।

(2) इसमें पौधों में वर्धी वृद्धि (Vegetative growth) कम हो जाती है। जिससे उत्पन्न होने वाले बीज स्वस्थ्य व अच्छे होते हैं और उनकी पैदावार भी अधिक होती है।

(3) विभिन्न खाद्यान्न फसलों जैसे– गेहूँ तथा जौ आदि के पौधों में बसन्तीकरण के फलस्वरूप शुष्कता प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

(4) बसंतीकरण के पश्चात् पौधों में क्लोरोप्लास्ट की मात्रा अधिक हो जाती है जिससे उनमें प्रकाश संश्लेषण की क्रिया भी अधिक होने लगती है।

प्रश्न– 27. दीप्तिकालिता पर निबन्ध लिखिये। [सागर 2005,07,12,15]

अथवा

दीप्तिकालिता से आप क्या समझते है? इसकी क्रियाविधि एवं इसके महत्व को समझाईये।

[जीवाजी 2008,11,14]

उत्तर– **दीप्तिकालिता (Photoperiodism)**– गार्नर एवं एलार्ड (Garner and Allard, 1920) नामक वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर बताया कि पौधों पर पुष्पन की क्रिया में रात व दिन की एकांतरण क्रिया का काफी प्रभाव पड़ता है। इस क्रिया को दीप्तिकालिता कहते हैं। इसके आधार पर पौधों को तीन भागों में बाँटा गया है–

(1) **छोटे दिन वाले**– इनके पुष्पन के लिये 12 घण्टे से कम प्रकाश तथा 4 घण्टे तीव्र प्रकाश की आवश्यकता होती है। उदाहरण– सोयाबीन स्ट्राबेरी, तम्बाकू आदि।

(2) **लम्बे दिन वाले पौधे**– इनके पुष्पन के लिये 15 घण्टे या इससे अधिक दीप्तिकाल की आवश्यकता होती है तथा इनको 7–8 घण्टे अंधेरे की आवश्यकता होती है। उदाहरण– मूली, गेहूँ, चुकंदर।

(3) **दिन निर्पेक्ष पौधे**– ये पौधेत एक आयु के बाद ही पुष्पन करते हैं। इन पौधों के पुष्पन पर दिन के छोटे या बड़े होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

उदाहरण– सूरजमुखी, कपास, मटर, टमाटर आदि।

दीप्तिकालिता की क्रियाविधि– पौधों में पुष्पन क्रिया के लिये एक विशेष प्रकार का रासायनिक पदार्थ या हॉर्मोन बनने लगता है। इसे फ्लोरीजन (Florigen) कहते है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि प्रकाश तथा CO_2 की उपस्थिति में पत्तियों में पदार्थ A व अंधेरे में पदार्थ B बनता है, जो अंत में पदार्थ C में बदल जाता है। इसे ही फ्लोरीजन कहते है। ये फ्लोरीजन हॉर्मोन पत्तियाँ में बनता है व यहाँ से प्ररोह में चला जाता है और पुष्पन की क्रिया करने में सहायता करता है। छोटे दिन वाले पौधों को अधिक प्रकाश देने पर उनमें पुष्पन क्रिया नहीं होती है। यदि दूसरे पौधों को प्रकाश अवधि के बाद ग्राफ्ट कर दिया जाये तो उनमें पुष्पन हो जाता है।

दीप्तिकालिता पर प्रकाश का प्रभाव (Effect of light on Photoperiodism)– दीप्तिकालिता पर प्रकाश के प्रभाव का अध्ययन करने पर देखा गया है कि जब छोटे दिन वाले पौधों को 8 घण्टे प्रकाश में रखकर 16 घण्टे अंधेरे में रख दिया जाता है तो उनमें पुष्पन होने लगता है। दीप्तिकालिता पर प्रकाश के प्रभाव से यह देखा गया है कि पौधों में प्रकाशग्राही अंग पत्तियाँ पायी जाती हैं क्योंकि जिन पौधों में सभी पत्तियाँ तोड़कर पृथक कर दी जाती है तो उनमें पुष्पन नहीं होता है जबकि उनको उपयुक्त प्रकाश अवधि दी जाये।

छोटे दिन वाले पौधों में प्रकाश अवधि के अंत में फार रेड प्रकाश अवशोषण अधिक होता है। परन्तु फार लाल प्रकाश एवं लाल प्रकाश अवशोषण के अनुपात के फलस्वरूप पुष्पन क्रिया नहीं होती है। अंधेरे में प्रकाश अवधि में फार लाल प्रकाश अवशोषण अधिक होता है। किन्तु फार लाल प्रकाश अवशोषण एवं लाल प्रकाश अवशोषण के अनुपात के फलस्वरूप पुष्पन क्रिया नहीं होती है। अंधेरे प्रकाश अवधि में फार लाल प्रकाश रूप लाल प्रकाश अवशोषण रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप पुष्पन क्रिया होती रहती है।

कृषि में दीप्तिकालिता का महत्व–

(1) इसके द्वारा पौधों को नियंत्रित करके इच्छानुसार फूल व फल प्राप्त किये जा सकते हैं।

(2) इस विधि द्वारा एक वर्षीय पौधों को बहुवर्षीय पौधों में तथा द्विवर्षीय पौधों को एकवर्षीय पौधों में बदला जा सकता है।

(3) इसके द्वारा दो विभिन्न जातियों में निषेचन व परागण करवाके नई जातियाँ प्राप्त की जा सकती हैं जो आर्थिक महत्व की होती है जिसके कारण पौधों में क्रॉस कराना बहुत कठिन होता है। दीप्तिकालिता द्वारा पौधों में अपनी इच्छानुसार पुष्पन कराया जा सकता है। व दो भिन्न-भिन्न जातियों में क्रॉस करवाकर नई किस्मों को प्राप्त किया जा सकता है।

(4) लम्बे दीप्तिकाल में उत्पन्न आलू टेढ़े-मेढ़े आकार के होते हैं जिनमें आँखे काफी गहराई पर स्थित होती है। लेकिन आलुओं को कम अवधि का दीप्तिकाल व अधिक तापमान देकर प्याज आदि के बल्बों को शीघ्रता से उगाया जा सकता है।

प्रश्न–28. जीवों में पायी जाने वाली सकारात्मक अन्योन्य क्रियाओं का वर्णन कीजिये।

[भोपाल 2005, जीवाजी 2007]

अथवा

सहभोजिता पर एक टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006 भोपाल 2008]

उत्तर– सकारात्मक अन्योन्य क्रियायें (Positive Interactions)– इसमें समष्टियां एक–दूसरे के लिये सहायक होती हैं और अन्योन्य क्रियायें एक दिशा अथवा व्युत्क्रम दिशा में कार्य करती हैं। इसके अन्तर्गत (i) सहभोजिता (Commensalism), (ii) सहकार (Cooperation) तथा (iii) सहोपकारिता (Mutualism) को सम्मिलित किया गया है।

सकारात्मक अन्योन्य क्रियाओं के अन्तर्गत समष्टियाँ आपस में एक–दूसरे की सहायता करती हैं जिसमें दोनों को ही लाभ होता है। यह लाभ भोजन, आश्रय अधोस्तर अथवा आवागमन के रूप में हो सकता है। इसमें जीव धारियों का सम्बन्ध निरन्तर अथवा कालिक (transitory), परजीवी जिसमें दोनों जीव एक–दूसरे के सम्पर्क में रहती है तथा इनके ऊतक आपस में मिल जाते हैं अथवा समष्टि के जीवधारी एक विशिष्ट क्षेत्र में ही बने रहते हैं तथा इनके ऊतक आपस में मिल जाते हैं अथवा समष्टि के जीवधारी एक विशिष्ट क्षेत्र में ही बने रहते है अथवा अपनी सतह पर ही चिपके रहते हैं। इस प्रकार की लाभकारी अन्योन्य क्रियाओं को निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है–

(1) सहोपकारिता (Mutualism)– साथ–साथ जीवन व्यतीत करने की क्रिया सहोपकारिता कहलाती है। इस सम्बन्ध के अन्तर्गत दोनों जातियों को समान लाभ होता है। यह सम्बन्ध जन्तुओं के बीच पादपों के बीच या पादप एवं जन्तुओं के बीच या पादप एवं जन्तुओं के बीच हो सकता है। इस प्रकार का सम्बन्ध स्थायी भी हो सकता है। जो प्रत्येक जीव को जीवित रखने के लिये अति आवश्यक होता है। अतः इस प्रकार दोनों प्रकार की समष्टि के बीच एक प्रकार का कार्यकीय विनिमय हो जाता है। इसके निम्न उदाहरण हैं–

1. **जन्तुओं द्वारा परागण (Pollination by animals)–** मधुमक्खियाँ, मॉथ, तितलियाँ आदि पादपों से अपने भोजन के लिये शहद अथवा अन्य पादप उत्पाद लेती हैं जिसके फलस्वरूप पादपों में परागण हो जाता है।
2. **फलों एवं बीजों का प्रकीर्णन (Dispersal of fruits and seeds)–** प्रायः बीजों तथा फलों का प्रकीर्णन जन्तुओं द्वारा होता है। फलों को चिड़ियाँ अथवा स्तनधारी खाते हैं तब उनके साथ बीजों का प्रकीर्णन हो जाता है और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं।
3. **लाइकेन्स–** यह सहोपकारिता का एक अच्छा उदाहरण है। जिसमें दोनों जीवों में स्थायी सम्पर्क पाया जाता है। इनका शरीर कवक द्वारा बने मेट्रिक्स का बना होता है तथा इसकी कोशिकाओं में शैवाल धँसा रहता है। कवक द्वारा इन्हें आर्द्रता तथा खनिज प्राप्त होते रहते हैं तथा शैवाल भोजन का निर्माण प्रकाश संश्लेषण द्वारा

करता है। इसमें कोई भी एक प्रकृति में स्वतन्त्र रूप से उग नहीं सकता है। लाइकेन प्रायः पत्थर की नंगी चट्टानों की सतह पर उगते हुये पाये जाते हैं।

4. **सहजीविता (Symbiosis)–** सहजीवी जीवाणुओं द्वारा नाइट्रोजन का स्थिरीकरण उपकुल पेपीलियोनेटी के पौधों में मूल ग्रंथियाँ पायी जाती हैं। जिनमें सहजीवी जीवाणु (Symbiotic bacterium), राइजोबियम लेग्युमिनेसोरम (Rhizobium leguminesorum) होते हैं।

इन जीवाणुओं को पोषक से कार्बोहाइड्रेट्स प्राप्त होते हैं तथा पोषक को जीवाणुओं से काम आने वाली नाइट्रोजन (N_2) प्राप्त होती है और इस प्रकार का दोनों जीवधारियों के बीच का सम्बन्ध सहजीवन कहलाता है। राइजोबियम की अलग-अलग जातियाँ विभिन्न प्रकार के पौधों की मूल ग्रंथियों में पायी जाती हैं। जैसे मटर में रा. लेग्युमिनोसेरम मैलीलोटस तथा सोयाबीन में रा. जपोनिका आदि। ये जीवाणु बीजाणु उत्पन्न नहीं करते हैं, ये ग्राम नेगेटिव होते हैं तथा श्वसन करते हैं। यह जीवाणु पोषक की अनुपस्थिति में N_2 स्थिरीकरण नहीं करते हैं। इसी प्रकार से एलोपेकुरस, केश्यूराइना, साइकेडेसी तथा मायरीका पौधों की जड़ों में मूल ग्रंथियाँ पायी जाती हैं। जो नाइट्रोजन स्थिरीकरण करती हैं।

5. **कवक सहजीविता (Mycorrhiza)–** इसमें कवक पौधों की जड़ों में रहते हैं। जिस भूमि में ह्यूमस की अधिकतम मात्रा रहती है उसमें प्रायः कवक सहजीविता पाई जाती है। ऐसे पौधों की जड़ों में मूलरोमों का अभाव होता है। इसमें जल तथा खनिज लवण अवशोषित करके कवक पौधों की जड़ों में पहुँचता है तथा कवक को पौधों से कार्बनिक भोज्य पदार्थ प्राप्त होते हैं।

कवकों के कवक तन्तु या तो पोषकों जैसे ओक की जड़ों के ऊपर उग कर जाल सा बना लेते हैं व उनका पोषण करते हैं। अतः ये एक्टोट्रॉफ्स (Ectotrophs) कहलाते हैं। कुछ पौधों जैसे वालनट (Walnut) की जड़ों के कॉर्टेक्स वाले भाग तक कवक तन्तु प्रवेश करके वहाँ रह कर पोषण करते हैं वे ये एण्डोट्रॉफ्स कहलाते हैं।

6. **जन्तुओं में स्वयं सम्बन्ध (Association between animals)–** दीमक लकड़ी को कुतर कुतर कर खाती है, इस कीट की आन्त्र में ट्राइकोनिम्फा नामक प्रोटोजोअन पाया जाता है, लकड़ी के सेल्युलोज के पाचन में यह प्रोटोजोअन सहायक होता है। इसके बदले में ट्राइकोनिम्फा को पोषण तथा रहने के लिये स्थान मिल जाता है।

(2) सहभोजिता (Commensalism)– इस प्रकार का सम्बन्ध भिन्न जातियों के मध्य पाया जाता है जिसमें एक जाति को लाभ तथा दोनों में से किसी को भी हानि नहीं होती है। इसमें दो अथवा दो से अधिक समष्टियाँ साथ-साथ रहती हैं और इनमें कोई कार्यकीय आदन–प्रदान नहीं होता है। दूसरे को किसी प्रकार प्रभावित किये बिना एक को लाभ होता है। इसके निम्न उदाहरण हैं–

1. **लायनाज (Lianas)– इन पौधों की जड़े जमीन में स्थित होती हैं व इनके तने दूसरों का सहारा लेकर सीधे बने रहते हैं। जिससे पौधे दूसरे पौधों पर लिपट कर वृद्धि करते हैं व सूर्य का प्रकाश प्राप्त कर लेते हैं। लायनाज प्रायः घने जंगलों में उगते हैं। जहाँ आर्द्रता की अधिकता होती है। ये जिन वृक्षों का सहारा लेकर यह ऊपर चढ़ते हैं उन वृक्षों से किसी प्रकार का पोषण नहीं लेते हैं। उदाहरण– बोहीनिया तथा टीनोस्पोरा की कुछ जातियाँ।**

2. **अधिपादप (Epiphytes)**– यह पादप दूसरे वृक्षों आदि पर उगते हैं तथा उन्हीं से चिपके रहते हैं। यह वृक्षों से जल तथा भोजन नहीं लेते हैं। लायनाज से यह भिन्न होते हैं क्योंकि इनकी जड़े जमीन में स्थिर नहीं होती हैं। अधिपादप वृक्षों के तनों, पत्तियों, झाड़ियों अथवा बड़े–बड़े जलमग्न पादपों पर उगते हुये पाये जाते हैं। यह प्रायः ट्रॉपीकल (Tropical) अधिक वर्षा वाले वनों में उगते हुये पाये जाते हैं। उदाहरण– ऑर्किड, लटके हुये मॉसेज, अस्निया तथा एलेक्टोरिया आदि लाइकेन्स हैं। अधिपादपों की जड़ों की सतह पर विशिष्ट प्रकार का ऊतक वेलामेन पाया जाता है।

ऑर्किड के अधिपादप पौधों में अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। इनके फल बैरी होते हैं जो गूदेदार एवं मीठे स्वाद के होते हैं। फलों में बहुत अधिक संख्या में बीज पाये जाते हैं। इनके फल बड़े चाव से चिड़ियाँ खाती हैं। चिड़ियों की चोंच या गूदे के साथ बहुत से बीज चिपक जाते हैं तथा कुछ बीज चिड़ियों की आहारनाल में चले जाते हैं। जब चिड़ियाँ एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुंचती है तथा वहाँ जाकर वृक्षों के ऊपर अपना मल त्याग करती है अथवा अपनी चोंच को रगड़ती हैं तो ये बीज उन वृक्षों की छाल की दरारों में प्रवेश करके अंकुरण करके नये ऑर्किड के अधिपादपों का निर्माण करते हैं जिनकी जड़े वायुमण्डल में लटकती रहती है। अधिपादप की जड़ों में सबसे बाहर एक विशिष्ट प्रकार का ऊतक पाया जाता है। जो विलामेन कहलाता हैं, ये वायुमण्डल में उपस्थित नमी का अवशोषण करता है।

3. अनेक सहभोजी अन्य जीवधारियों के सम्पर्क में रहते हैं, जैसे गिलहरी, ट्रीफोग, बन्दर, सर्प, चिड़ियाँ, कीट अपने आश्रय तथा संकरण के लिये वृक्षों तथा अन्य पादपों का सहारा लेते हैं।

प्रश्न–29. जीवधारियों में पायी जाने वाली नकारात्मक अन्योन्य क्रियाओं का वर्णन कीजिये।
[भोपाल 2005, जीवाजी 2007]

अथवा

नकारात्मक अन्योन्य क्रियायें क्या हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिये। **[जीवाजी 2008]**

उत्तर– नकारात्मक अन्योन्य क्रियायें (Negative interactions)– इस प्रकार की क्रियाओं के सम्बन्धों में एक अथवा दोनों जातियों को जीवन काल में हानि होती हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध एण्टागोनिज्म कहलाता है। इसे निम्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

(1) **शोषण (Exploitation)**– इसमें के जाति दूसरी जाति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहारा, आश्रय अथवा भोजन लेकर हानियाँ पहुँचाती हैं। अतः शोषण आश्रय अथवा भोजन द्वारा होता है।

1. **आश्रय (Shelter)**– जन्तुओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं– जैसे– चीटियों की एक जाति दूसरी जाति की चीटियों को दासी या श्रमिकों के रूप में प्रयोग करती है। पोलीअर्गस (Polyergus), श्रमिक फोमिका (Fomica) के घोंसलों पर आक्रमण करती है तथा बाद में फोमिका, पोलीअर्गस का पोषण करती है तथा घोसले का निर्माण नहीं करते हैं। इन पक्षियों की मादा अपने अण्डे छोटी जातियों के पक्षियों द्वारा निर्मित घोसलों में ही देती हैं।

2. **भोजन (Food)**– इसके लिये जीवधारियों में निम्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं–

(i) परजीविता (Parasitism)– कवकों तथा जीवाणुओं की अनेक जातियाँ पौधे पर या उनके अन्दर रहती हैं जो अपने पोषकों द्वारा भोजन का अवशोषण करती हैं। पादपों पर कवक अनेक बीमारियां उत्पन्न करते हैं जिससे उत्पादकता कम हो जाती है, जैसे– पक्सिनिया ग्रेमिनिस, यूस्टिलागो तथा एल्ब्यूगो आदि। जीवाणुओं द्वारा भी पौधों पर अनेक रोग, जैसे

नीबू का केंकर (citrus canker), स्यूडोमोनास सिट्राई जीवाणु द्वारा कपास की ब्लेक आर्म नामक बीमारी जैन्थोमोनास मालवेसिएरम द्वारा उत्पन्न होती है।

कुछ आवृत बीजी पौधे भी परजीवी होते हैं जो पोषकों के स्तम्भ अथवा मूल से अपना भोजन अवशोषित करते हैं। जैसे– अमरबेल (cuscuta) इसकी अनेक जातियाँ पूर्ण स्तम्भ परजीवी होती हैं जो डुरन्टा बबूल तथा अन्य वृक्षों के ऊपर पायी जाती है। ये पुष्पी पौधा है जिसमें पत्तियाँ नहीं पायी जाती हैं तथा क्लोरोफिल के अभाव के कारण इनका तना दुर्बल व पीला होता है। इसका तना पोषको के तनों के चारों ओर लिपट जाता है। इसके होस्टोरिया पोषक स्तम्भों में प्रवेश करते हैं, जो संवहन ऊतकों के जाइलम तथा फ्लोयम से अपना सम्बन्ध स्थापित करके अकार्बनिक भोज्य पदार्थों, जल तथा कार्बनिक भोज्य पदार्थों का अवशोषण करते हैं। अमरबेल में अनेक पुष्प गुच्छों में निकलते हैं जिनसे बीज बनते हैं, बीज अंकुरण करके बीजांकुर बनाते हैं, जो किसी पोषक पर लिपट जाते हैं, व इनका सम्बन्ध भूमि से टूट जाता है।

2. **परभक्षण (Predation)**– इसमें एक प्राणी दूसरे प्राणी का भक्षण करता है जो प्राणी भक्षण करता है वह **भक्षक** कहलाता है जैसे– शेर हिरण् को खाता है, मेंढक कीटों को, उल्लू साँप व चूहों को। लेकिन मेंढक को साँप भी खा सकते हैं अतः मेंढक भक्षक भी है तथा शिकार भी। अधिकतर जन्तु तथा कुछ पौधे जैसे– कवक भक्षक तथा मांसाहारी होते हैं। कुछ जन्तुओं में व्यस्क, भक्षक तथा शिशु परजीवी होते हैं। परिभक्षण के प्रमुख उदाहरण निम्न प्रकार हैं–

(i) बिलकारी एवं चारण क्रियायें (Browsing and grazing)– बिलकारी जन्तु जैसे चूहा, जंगली चूहा, गिलहरी आदि फसलों के दुश्मन कहलते हैं, क्योंकि यह जानवर अपने भोजन लिये फलों तथा बीजों को खा जाते हैं। पशुओं द्वारा चारण का भी पौधों पर बुरा प्रभाव पडता है,क्योंकि जंगली तथा पालतू जानवरों पौधों की चराई द्वारा अपना भोजन प्राप्त करते हैं। ऊँट तथा बकरी आदि पशु पेड़ों की पत्तियों तथा कोमल शाखाओं को खा जाते हैं यहीं नहीं भारी शरीर वाले जानवरों जैसे गाय–भैंस के खुरों (hoots) से दबकर बीज तथा बीजांकुर नष्ट हो जाते हैं व अन्त में अधिक चराई के फलस्वरूप बड़े–बड़े वन घास के मैदानों में बदल जाते हैं। चराई के कारण मृदा के जैविक तन्त्रों में अन्तर आ जाता हैं तथा मृदा अपरदन होने लगता हैं जिससे पौधों को बहुत हानि होती है।

(ii) बीजों एवं बीजाकुरों का विनाश (Seeds and Seedling destruction)– प्रायः चूहे, गिलहरी, कीट आदि अपने भोजन के लिये बीजों को खाते हैं और यह वृक्षों झाड़ियों आदि में बिल बना कर निवास करते हैं तथा धीरे–धीरे उन्हें खुरच–खुरच कर नष्ट कर देते हैं।

(iii) भोजन के रूप में पादप (Plants as food)– कुछ जन्तुओं द्वारा पादपों को भोजन के रूप में खाते हैं कुछ जन्तु, डायटम्स, फ्लेजिलेट्स तथा अन्य शैवालों को नष्ट कर देते हैं।

(iv) कीटभक्षी या मांसाहारी पौधे (Insectivorous or carnivorous plants)– इस प्रकार के पौधों में क्लोरोफिल अधिक मात्रा में पाया जाता है। अतः ये प्रकाश संश्लेषण के द्वारा कार्बोहाइड्रेट्स स्वयं बना लेते हैं। अतः ये स्वयंपोषी पौधे कहलाते हैं। ये पौधे ऐसे दलदली क्षेत्रों में उगते हैं जहां पर नाइट्रोजन के यौगिकों की कमी होती है। नाइट्रोजन पौधों की वृद्धि का अत्यन्त आवश्यक तत्व है। ये पौधे अपना

नाइट्रोजन की आवश्यकता कीटों को पकड़कर तथा उनका भक्षण करके पूरा करते है। इस कार्य के लिये इनमें विशेष विधियाँ विकसित होती है।

(2) **प्रतिजीविता (Antibiosis)**– इसमें एक जीवधारी द्वारा उत्पन्न किये गये विषैले पदार्थ द्वारा दूसरे जीवधारी की वृद्धि रुक जाती हैं अथवा मृत्यु हो जाती है अथवा उपापचयी पथ पर्यावरणीय दशाओं की वजह से अत्यधिक प्रभावित हो जाता है। यहां किसी भी जीवधारी को एक-दूसरे से लाभ नहीं होता है। यह क्रिया प्रायः सूक्ष्मजीवियों में होती है व कुछ रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते है जो माइक्रोब्स के प्रति विपरीत होते हैं, प्रतिजैवीय (antibiotics) कहलाते हैं।

(3) **प्रतिस्पर्द्धा (Competition)**– जीवधारियों में पानी, पोषक तत्वों, आवास आदि की स्पर्द्धा होती है। यह जातियों के सदस्यों के बीच या अन्य जातियों के बीच भी हो सकती है बहुत अधिक समान जीवधारियों में पर्यावरण से प्राप्त करने की तीव्र आवश्यकतायें होती हैं। डार्विन के अनुसार एक ही वंश की विभिन्न जातियों में अधिक स्पर्द्धा होती है जबकि विभिन्न वंशों में यह स्पर्द्धा कम होती है। इन्टरस्पेसिपिक तथा इन्ट्रास्पेसिफिक स्पर्द्धा में प्रयोगशाला में किये गये कार्य के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये हैं कि इन्ट्रास्पेसिफिक स्पर्द्धा, समष्टि पारिस्थितिकी का विषय कहलाता है। स्पर्द्धा का विश्लेषण निम्न तीन रूपों में पाया जाता है-

1. ऐसे कारक जिनके लिये जीवधारी स्पर्द्धा करते हैं (Factors for which organisms compete)–

(i) स्थान– भूमि के ऊपर तथा नीचे
(ii) प्रकाश
(iii) कार्बन डाय ऑक्साइड
(iv) पोषक तत्व
(v) जल

2. स्पर्द्धा उत्पन्न करने वाले जीवधारियों के विशेष लक्षण (Characteristics of organisms which cause competition)– यह निम्न प्रकार के हो सकते हैं-

(i) पादपों में निष्क्रिय मूल अन्योन्य क्रियायें जैसे श्वसन द्वारा कार्बन डाईऑक्साइड (CO_2) का उत्पन्न होना।

(ii) एलीलोपेथी (Allelopathy)– वातावरण में प्रत्यक्ष अन्योन्य क्रिया द्वारा विशिष्ट प्रकार के टॉक्सिन का स्त्रावण होता है जो लगभग सूक्ष्म जीवधारियों में होने वाले प्रतिजीविता (Antibiosis) के समान होता है जो लगभग सूक्ष्म जीवधारियों में होने वाले प्रतिजीविता के समान होता है। उदाहरण के लिये कड़वे बादामों में HCN उत्पन्न होता है जो पॉपी के बीजों के अंकुरण को रोक देता है।

3. स्पर्द्धा को प्रभावित करने वाले बाह्य कारकों सहित अन्योन्य क्रियायें (Interactions with external factors which influence competition)– इसमें निम्न बिन्दु सम्मिलित हैं–

(अ) परागणकर्ताओं के लिये स्पर्द्धा
(ब) प्रकीर्णन एजेन्ट्स के लिये स्पर्द्धा
(स) जन्तु एवं पादपों द्वारा पारिस्थितिक सन्तुलन का चयनित दांब।
(द) पर्यावरण में असन्तुलन द्वारा बनी नंगी मृदा अथवा बीजांकुर कर्मता (seedling niches)
(य) अन्य स्पर्द्धीय कारकों पर ताप प्रकाश, आर्द्रता तथा वायु का प्रभाव।

प्रश्न–30. मरुदिभद् पौधों में पाये जाने वाले आकारिकीय, शारीरिक व कार्यिकीय पारिस्थितिक लक्षणों का वर्णन कीजिये। [भोपाल 2006,10 जीवाजी 2006,14 सागर 2006]

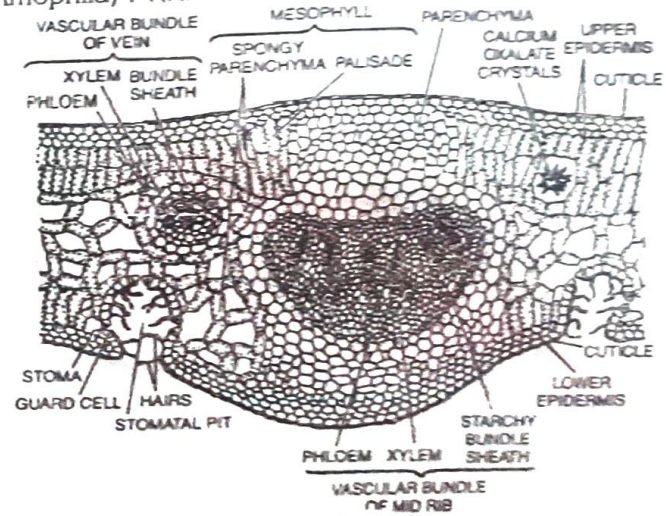
अथवा

मरुदिभद् पौधों पर विस्तारपूर्वक निबन्ध लिखिये। [जबलपुर 2015,18]

उत्तर– वह पौधे जो जल की कमी में उगते हैं, मरुदिभद कहलाते हैं। अपनी परिस्थिति के अनुसार इनमें समायोजन करने हेतु अनेक प्रकार की अनुकूलतायें पायी जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं।

(अ) आकारिकीय लक्षण (Morphological Characters)–

1. मरुदिभदों के शरीर पर प्रायः रोम (hair) कण्टक (spines) आदि पाये जाते हैं। पत्तियाँ छोटे आकार की शल्कों के रूप में या काँटों में बदल जाती हैं। ये पौधे कड़े और सीधे होते है।
2. मूल (Roots) अधिक विकसित तथा शाखायुक्त होती हैं। जड़े गहराई तक भूमि में पानी ग्रहण करने के लिये प्रवेश करती हैं तथा मूलरोम (Root hair) सुविकसित होते हैं। जड़े मांसल भी हो सकती है।
3. तने छोटे मोटे अथवा चपटे तथा हरे होते हैं, जैसे– यूफोर्बिया (euphorbia) तथा कैक्टस (Cactus)। तने विभिन्न रूपों में रूपान्तरित हो जाते हैं, जैसे– नागफनी, रसकस (Ruscus)
4. पत्तियों के वृन्त भी रूपान्तरित हो जाते हैं, जैसे– आस्ट्रेलियन बबूल (Australlian Acacia)। कुछ घासों की पत्तियाँ अन्दर की ओर लिपट जाती हैं, जैसे– ऐमोफिला (Amophila) जिससे कम से कम वाष्पोत्सर्जन हो सके।



चित्र– नीरियम

आन्तरिक संरचना में अनुकूलन (Anatomical adaptation)–

1. क्यूटिकल (मोटी या पतली स्तर के रूप) तने तथा पत्तियों की बाह्य त्वचा के ऊपर उपस्थित होती हैं।
2. बाह्य त्वचा कई स्तर (Many layered) की भी हो सकती है उदाहरण– नेरियम (Nerium)
3. पत्तियों की निचली सतह पर धँसें हुये रन्ध्र (Sunken stomata) पाये जाते हैं। यह रन्ध्र, रन्ध्र-गुहाओं (St omatal cavities) में स्थित होते हैं, जिनमें रोम (hair) या स्टोमेटल रोम उपस्थित होते हैं।

4. पत्तियों में मीजोपिल पैलीसेट ऊतक एवं स्पंजी पेरेन्काइमा में स्पष्ट भिन्नित होते हैं।
5. अन्तरकोशिकीय अवकाश (inter cellular spaces) आकार में बहुत बड़े होते हैं अथवा उपस्थित होते हैं।
6. शरीर को मजबूती प्रदान करने के लिये यान्त्रिक ऊतक (Mechanical tissue) कोलेनकाइमा (Chollenchyma) के रूप में तथा स्कलेरेनकाइमा (Sclerenchyma) के रूप में उपस्थित रहता है।
7. तनों के वल्कुट में क्लोरेनकाइमा भी पाया जाता है।
8. संवहन ऊतक (Conducting tissue) जाइलम तथा फ्लोयम के रूप में पूर्णतया विकसित होता है।

प्रश्न–31. जलोद्भिद पौधों में पाये जाने वाले आकारिकीय एवं संरचनात्मक अनुकूलनों का वर्णन कीजिये। [भोपाल 2006,14,18 सागर 2006,15]

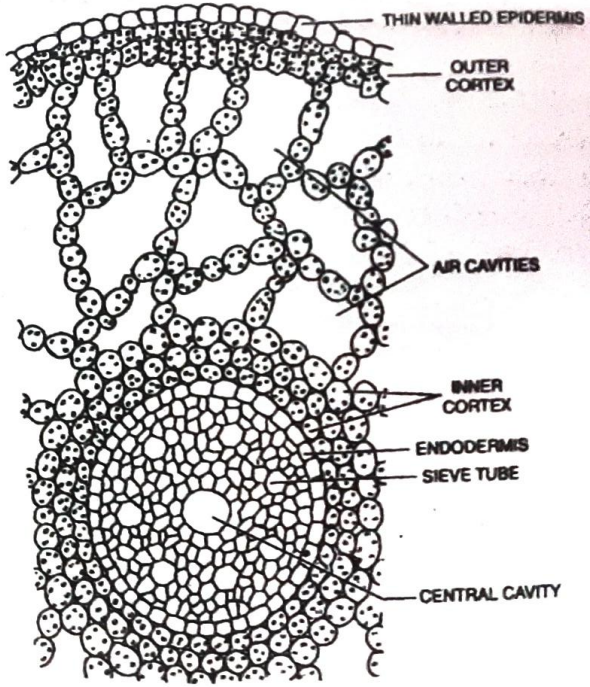
अथवा

जलोद्भिद पौधों में अनुकूलन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2005]

उत्तर– जलोद्भिद पौधों में अनुकूलन (Adaptation in Hydrophytic plants)–

आकारिकीय अनुकूलन (Morphological adaptation)–

1. जलीय पौधों के जल निमग्न भाग श्लेष्म द्वारा आच्छादित रहते हैं। यह पौधे को सड़ने एवं अम्ल रसायनों से रक्षा करता है।
2. इनमें मूलतन्त्र अविकसित या कम विकसित होता है। जड़ों पर मूलरोम (Root cap) का भी अभाव होता है। इनके स्थान पर मूल पॉकेट (Root Pocket) होती है।



चित्र– हाइड्रिला

3. प्लावी पौधों की पत्तियों की ऊपरी सतह मोम से ढकी रहती है।

4. निमग्न पौधों की पत्तियाँ छोटी, फीतेनुमा (वैलिसनेरिया) रेखीय (पोटेमोजिटॉन) अथवा कटीफटी (यूट्रीकुलेरिया) होती हैं, जिसके कारण वे तरंगों की आघात को सहन कर सकती हैं।
5. कुछ पौधे के तने एवं पत्तियाँ फूलकर गैसों को संग्रहित करते हैं, जिससे पौधों को तैरने में आसानी होती है। उदाहरण– ट्रापा (Trapa), इकार्निया (eicchomia)
6. पत्तियाँ सामान्यतः पतली एवं रैखिक होती हैं।
7. इन पौधों में वर्धी प्रजनन पाया जाता है।

आन्तरिकत संरचनात्मक अनुकूलन (Anatomical adaptations)–

1. पौधों में क्यूटीकल बाह्य त्वचा पर उपस्थित नहीं होता है। रन्ध्र जल निमग्न भाग पर अनुपस्थित होते हैं पर स्वतन्त्र प्लावी (Free floating) पौधे की पत्तियों की ऊपरी सतह पर रन्ध्र उपस्थित होते हैं।
2. यांत्रिक ऊतक बहुत कम विकसित होते हैं।
3. संवहन ऊतक भी कम विकसित होता है, क्योंकि जल के आसानी से उपलब्ध होने के कारण संवहन की उतनी आवश्यकता नहीं होती।
4. इन पौधों में बड़े–बड़े वायु प्रकोष्ठों युक्त ऐरेनकायमा पाये जाते हैं, जिनमें गैस संग्रहित रहती है। यह पौधे को तैरने में सहायता करता है।
5. तनों का कॉर्टेक्स प्रायः हरा होता है। एण्डोडर्मिश अविकसित होती है।
6. द्वितीयक वृद्धि का अभाव होता है।
7. पौधों का शरीर अपेक्षाकृत कोमल होता हैं।
8. पौधों द्वारा श्लेष्म (mucilage) स्त्रावित होता है, जिसे छूने पर लसलसे प्रतीत होते हैं।
9. पत्तियों में मीजोफिल ऊतक, पैलीसेड (Palisade) तथा स्पंजी पेरेनकाइमा (Spong parenchyma) में प्रायः विभेदित नहीं होता है।
10. जिन जलोदिभदों की पत्तियां पानी की सतह पर तैरती रहती हैं, उनकी ऊपरी सतह पर मोम (wax) स्तर साफ नजर आता है।

प्रश्न–32. प्लावी पौधों से आप क्या समझते हो? ये कितने प्रकार के होते हैं? वर्णन कीजिये। [उज्जैन 2001,14 जबलपुर 2003,15,18]

अथवा

प्लावी पौधों के आन्तरिक तथा आकारिक लक्षणों का वर्णन कीजिये। [इन्दौर 2005,14]

उत्तर– प्लावी पौधे (Floating plants)– जो पौधे जल की सतह पर तैरते रहते हैं। प्लावी पौधे कहलाते हैं। कुछ पौधों की जड़े कीचड़ में धँसी रहती हैं जबकि कुछ स्वतन्त्र रूप से जल की सतह पर ही तैरते रहते हैं। अतः ये निम्न दो प्रकार के होते हैं–

(i) स्वतन्त्र प्लावी पौधे (Free floating plants)– ऐसे पौधे स्वतन्त्र रूप से जल की सतह पर तैरते रहते हैं, जैसे वॉल्फिया (Wolfia), लेमना (Lemna), जलकुम्भी (Eichhornia) तथा पिस्टिया (Pistia) आदि।

(ii) स्थिर प्लावी पौधे (Fixed floating plants)– ऐसे पौधों की जड़े जल के नीचे कीचड़ में धँसी रहती हैं, जैसे कुमुदनी, कमल, निम्फिया आदि।

स्वतन्त्र प्लावी पौधों के आकारिकीय लक्षण (Morphological feature of free floating plant)

1. प्रायः पौधे छोटे आकार के होते हैं।
2. जड़े प्रायः अविकसित होती हैं।
3. जड़ों में मूलरोम नहीं पाये जाते हैं।

4. जड़ों में मूल टोपी नहीं पाये जाते हैं।
5. मूल टोपी के स्थान पर मूल पॉकेट्स (Root pockets) पाये जाते हैं।
6. पौधों का रंग हरा होता है।
7. पत्तियों के वृन्त फूले हुये एवं स्पंजी होते हैं।

आन्तरिक लक्षण (Anatomical characters)–

1. संवहन बण्डल कम विकसित होते हैं।
2. स्क्लेरेनकाइमा नहीं पाया जाता है।
3. तने, वृन्त तथा पत्तियों में बड़े आकार के वायु अवकाश (Air spaces) पाये जाते हैं।
4. पत्तियों में मीजोफिल, पेलीसेड कोशिकाओं तथा स्पंजी पेरेन्काइमा में भिन्नित होता है।
5. पत्तियों की ऊपरी सतह पर स्टोमेटा स्थित होते हैं।
6. तने में द्वितीयक वृद्धि नहीं होती हैं।

स्थिर प्लावी पौधों के आकारिकीय लक्षण (Morphological features of fixed floating plants)–

1. इनमें जड़े विकसित होती हैं।
2. इनमें तने प्राय: कीचड़ में धँसे हुये राइजोम होते हैं।
3. इनकी पत्तियाँ आकार में बड़ी होती हैं जिनकी ऊपरी सतह पर मोम का स्तर पाया जाता है।
4. पत्तियों के वृन्त लम्बे तथा स्पंजी होते हैं।
5. पुष्प आकर्षक एवं रंगीन होते हैं।

स्थिर प्लावी पौधों के शारीरिकीय लक्षण (Anatomical characters of fixed floating plants)–

1. पत्तियों में मीजोफिल पेलीसेड कोशिकाओं तथा स्पंजी पेरेन्काइमा में भिन्नित होता है।
2. ऊपरी एपीडर्मिश पर स्टोमेटा पाये जाते हैं।
3. इसकी ऊपरी एपीडर्मिश पर मोम का स्तर पाया जाता है जो पत्तियों को पानी में भीगने से बचाता है।
4. पत्तियों के वृन्तों एवं जड़ों में बड़े–बड़े वायु अवकाश पाये जाते हैं।
5. इनके संवहन बण्डल अधिक विकसित नहीं होते हैं।
6. स्कलेरेनकाइमा बहुत कम विकसित होता है।
7. जड़ों के संवहन बण्डल प्लावी पौधों में पाये जाने वाले बण्डलों की अपेक्षा अधिक विकसित होते हैं।

इकाई-3

लघु एवं दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. पारिस्थितिक तन्त्र से आप क्या समझते हैं? एक पारिस्थितिक तन्त्र के क्रियात्मक घटकों का वर्णन कीजिये। [सागर 2006,14,18 भोपाल 2007 उज्जैन 2015]

अथवा

पारिस्थितिक तन्त्र पर एक निबन्ध लिखिये। [जीवाजी 2014 सागर 2008]

अथवा

पारिस्थितिक तन्त्र के जैवीय घटकों पर टिप्पणी लिखिये। [इन्दौर 2005]

अथवा

जैवीय घटक पर एक टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006]

उत्तर– पारिस्थितिक तन्त्र का निर्माण दो प्रकार के घटकों के मिलने से हुआ है। ये घटक निम्न प्रकार हैं–

(i) जैवीय घटक (Biotic components)
(ii) अजैविक घटक (Abiotic components)

(i) जैवीय घटक (Biotic components)– इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(अ) स्वपोषित घटक (Autotrophic components)– इस घटक के अन्तर्गत जीव अपने पोषण के लिये अकार्बनिक पदार्थों से स्वयं भोजन का निर्माण करते हैं। इनके उदाहरण पेड़–पौधे हैं जो क्लोरोफिल की उपस्थिति में सूर्य के प्रकाश से ऊर्जा प्राप्त करके अकार्बनिक पदार्थों जैसे CO_2 तथा पानी द्वारा प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) के फलस्वरूप कार्बनिक (Organic) भोज्य पदार्थों का निर्माण करते हैं। भोज्य–पदार्थों में ऊर्जा संचित रहती हैं। ये घटक (Components) पारिस्थितिक तन्त्र में उत्पादक (Producer) कहलाते हैं इनके द्वारा संचित भोज्य पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जीवों को प्राप्त होते है।

$$6CO_2 + 12H_2O \xrightarrow[\text{प्रकाश}]{\text{क्लोरोफिल}} C_6H_{12}O_6 + 6H_2O + 6O_2\uparrow$$

जलीय पारिस्थितिक तन्त्र (Aquatic Ecosystem)– ये हरे जलीय पौधे (aquatic plants) तथा शैवाल (Algae) आदि उत्पादक (Producers) कहलाते हैं तथा वन पारिस्थितिक तन्त्र में पेड़, झाड़ी तथा शाकीय पौधे उत्पादक (Producer) कहलाते हैं।

(ब) परिपोषित घटक (Heterotrophic components)– उत्पादकों (Producers) द्वारा निर्मित भोजन दूसरे जीवों के प्रयोगों में आता है। अतः यह जीव उपभोक्ता (Consumers) तथा अपघटनकर्ता (Decomposers) कहलाते हैं, जो जटिल कार्बनिक पदार्थों को (Decompose) करते है।

(1) उपभोक्ता (Consumers)– वे जीव जो उत्पादकों (Producers) द्वारा निर्मित भोज्य पदार्थों का उपभोग करते हैं, उपभोक्ता (Consumers) कहलाते हैं, जिन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–

(i) प्रथम श्रेणी के उपभोक्ता (Consumers of the first stage)– इस श्रेणी के उपभोक्ता (Consumers) अपना भोजन सीधे उत्पादकों (Producers) से प्राप्त करते हैं, जैसे–कीट, चूहे, खरगोश, बकरी आदि। ये जीव शाकाहारी (herbivores) होते हैं।

(ii) द्वितीय श्रेणी के उपभोक्ता (Consumers of the second stage)– इस श्रेणी के उपभोक्ता (Consumers), मांसाहारी (Carnivores) होते हैं, जो अपना भोजन शिकार करके शाकाहारी (herbivores) जन्तुओं से प्राप्त करते हैं, जैसे भेड़िया, पक्षी, बिल्ली, मेढ़क आदि।

(iii) तृतीय श्रेणी के उपभोक्ता (Consumers of the third stage)– इस श्रेणी के उपभोक्ता (Consumers) स्वयं मांसाहारी (Carnivorous) होते हैं तथा द्वितीय श्रेणी के उपभोक्ताओं पर आश्रित रहते हैं, किन्तु अन्त में वे किसी जन्तु द्वारा भोजन के रूप में नहीं खाये जाते हैं, जैसे– शेर, बाज, अजगर, सर्प आदि। ये उपभोक्ता उच्चतम उपभोक्ता (Top consumers) कहलाते हैं।

सारणी– उत्पादक, प्रथम, द्वितीय तथा उच्चतम उपभोक्ता में पारस्परिक सम्बन्ध

	उत्पादक		प्रथम श्रेणी के उपभोक्ता		द्वितीय श्रेणी के उपभोक्ता		उच्चतम उपभोक्ता
1.	घास	→	बकरी	→	भेड़िया	→	शेर
2.	घास	→	कीट	→	पक्षी	→	बाज
3.	बीज या फल	→	चूहे	→	बिल्ली	→	अजगर सर्प
4.	पौधे	→	मनुष्य			→	शेर

2. अपघटनकर्ता (Decomposer)– वे जीव–जन्तु जो जटिल कार्बनिक पदार्थों को उनके सरल अवयवों में अपघटित कर देते हैं, अपघटनकर्ता (Decomposers) कहलाते हैं। ये प्रायः मृतोपजीवी (Saprophytic) होते हैं, जैसे– जीवाणु (Bacteria), कवक (Fungi) तथा अन्य सूक्ष्म जीव (Micro-organism) आदि। ये अपघटित अवयवों को पुनः वातावरण में लोटा देते हैं।

(ii) अजैविक घटक (Abiotic components)– इन्हें निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–

(अ) जलवायवीय (Climatic)– जैसे– पानी, ताप, प्रकाश, आर्द्रता आदि।

(ब) अकार्बनिक पदार्थ (Inorganic substance)– ये निम्न प्रकार के होते हैं–

(i) महत्व (Macro-nutrients)– इनके उदाहरण C, H, O,N, P,K,Mg, Ca, Fe तथा S आदि तत्व हैं।

(ii) लेश तत्व (Micro-nutrients)– इनके उदाहरण Zn, Mn, Cu, Mo, B तथा Al आदि तत्व हैं।

(iii) गैसें (Gases)– इनके उदाहरण H_2, O_2, CO_2 तथा NH_3 आदि गैसें हैं।

(स) कार्बनिक पदार्थ (organic compounds)– ये पदार्थ जैवीय तथा अजैवीय घटकों में सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होते हैं, जैसे– प्रोटीन्स, कार्बोहाइड्रेट्स लिपिड्स आदि।

प्रश्न–2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–

(अ) खाद्य श्रृंखला या भोजन श्रृंखला (ब) खाद्य जाल या भोजन जाल।

[जीवाजी 2005,06,15 उज्जैन 2007 भोपाल 2008,14]

उत्तर– खाद्य श्रृंखला (Food Chain)– जीवधारियों को ऊर्जा प्राप्त करने के लिये विभिन्न पदार्थों की आवश्यकता होती है। इन पदार्थों को खाद्य (Food) कहते हैं। खाद्य श्रृंखला के अन्तर्गत उपभोक्ता स्तर में जीवधारी निचले स्तर के जीवधारियों के लिये स्वयं भोजन का स्रोत बनते हैं। अतः इस प्रकार विभिन्न जीवों की वह श्रृंखला जिसके माध्यम से खाद्य ऊर्जा (Food energy) एक जीव से दूसरे जीव जीव में स्थानान्तरित होती हैं उसे ही खाद्य श्रृंखला कहते हैं। विभिन्न जीवों की खाद्य श्रृंखला को निम्नानुसार प्रदर्शित किया जा सकता है–

Producers → Herbivores → Carnivores → Top carnivores

खाद्य श्रृंखला की अवधारणा को सर्वप्रथम सी. इल्टन (C. Elton) ने प्रस्तुत किया था। इनके अनुसार, किसी परिस्थितिक तंत्र में उत्पादों एवं उपभोक्ताओं के विन्यास के फलस्वरूप एक संरचना का निर्माण होता है। जिसे पोषण संरचना (Trophic structure) कहते हैं। तथा

खाद्य श्रृंखला के प्रत्येक खाद्य स्तरों को पोषण स्तर (Trophic level) कहते हैं। तथा श्रृंखला में ऊर्जा का स्थानान्तरण इन्हीं पोषण स्तरों के माध्यम से होता है। सभी प्रकार की खाद्य श्रृंखलायें हमेशा उत्पादकों से ही प्रारम्भ होती हैं। उदाहरणार्थ–

मरुधास स्थल (Desert grass land) में खाद्य श्रृंखला अत्यधिक छोटी होती है।

जैसे– (i) घास → पशु → मनुष्य।

(ii) शाद्दल (Meadow) में पाँच स्तर पाये जाते हैं, जैसे–

घास → टिड्डा (Grasshopper) → मेंढक (frog) → साँप → मोर (Peacock)

(iii) इसी प्रकार तालाब की खाद्य श्रृंखला में निम्न स्तर पाये जाते हैं।

शैवाल → प्रोटोजोआ → छोटे जलीय खीट → छोटी मछलियां → बड़ी मछलियाँ।

(iv) इसी प्रकार महासागर की खाद्य श्रृंखला में भी निम्न स्तर दिखाई देते हैं–

पादप प्लवक (Phytoplankton) → प्राणी प्लवक (zooplankton) → छोटी मछलियाँ (Small fishes)→ बड़ी मछलियाँ (Large fishes)→ सबसे बड़ी मछलियाँ (Largest fishes)

खाद्य श्रृंखला के प्रकार (Types of food chains)– प्रकृति में खाद्य श्रृंखलायें निम्नलिखित तीन प्रकार की होती हैं–

(1) **प्रिडेटर खाद्य श्रृंखला (Predator food chain)**– इस प्रकार की खाद्य श्रृंखला शाकाहारी जन्तुओं से प्रारम्भ होकर बड़े प्रिडेटरों तक जाती हैं। इसमें शाकाहारी जीव प्राथमिक उपभोक्ताओं, प्रिडेटर, द्वितीयक एवं तृतीयक उपभोक्ता के रूप में पाये जाते हैं तथा पौधे उत्पादकों के रूप में पाये जाते हैं।

(2) **परजीवी खाद्य श्रृंखला (Parasitic food chain)**– इस प्रकार की खाद्य श्रृंखला शाकाहारी जंतुओं से प्रारम्भ होकर बड़े जीवों से सूक्ष्म जीवों (परजीवी) तक जाती है।

(3) **मृतोपजीवी खाद्य श्रृंखला (Saprophytic food chain)**– इस प्रकार की खाद्य श्रृंखला में खाद्य ऊर्जा मृतोपजीवी एवं पौधों के सड़े–गले कार्बनिक पदार्थों से सूक्ष्म जीवों की ओर स्थानान्तरित होती है।

खाद्य जाल (Food web)

वातावरण में खाद्य श्रृंखला के अनुसार, प्रत्येक पोषण स्तर, दूसरे पोषण स्तर (Trophic level) से सीधा सम्बन्ध रखता है। प्राकृतिक परिस्थितियों में सामान्यतः कई खाद्य श्रृंखलायें, एक–दूसरे से परस्पर संबंध प्रदर्शित करती है, और इस प्रकार अनेक खाद्य श्रृंखलायें एक–दूसरे से अंर्तसंबंधित होकर एक प्रकार के जाल का निर्माण करती है। जिसे खाद्य जाल कहते हैं। जैसे– खाद्य श्रृंखला में पौधों को चूहे खाते हैं, तथा इसके अतिरिक्त पौधों को खरगोश भी खा सकते हैं। चूहों को साँप के अतिरिक्त दूसरे प्राणी तथा साँप को बाज (Hawk) के अतिरिक्त मोर भी खा सकते हैं। इस प्रकार से एक समुदाय की अनेक खाद्य श्रृंखलायें आपस में अंर्तसम्बन्धित होकर एक क्रियात्मक जाल का निर्माण करती है। जो खाद्य जाल कहलाता है।

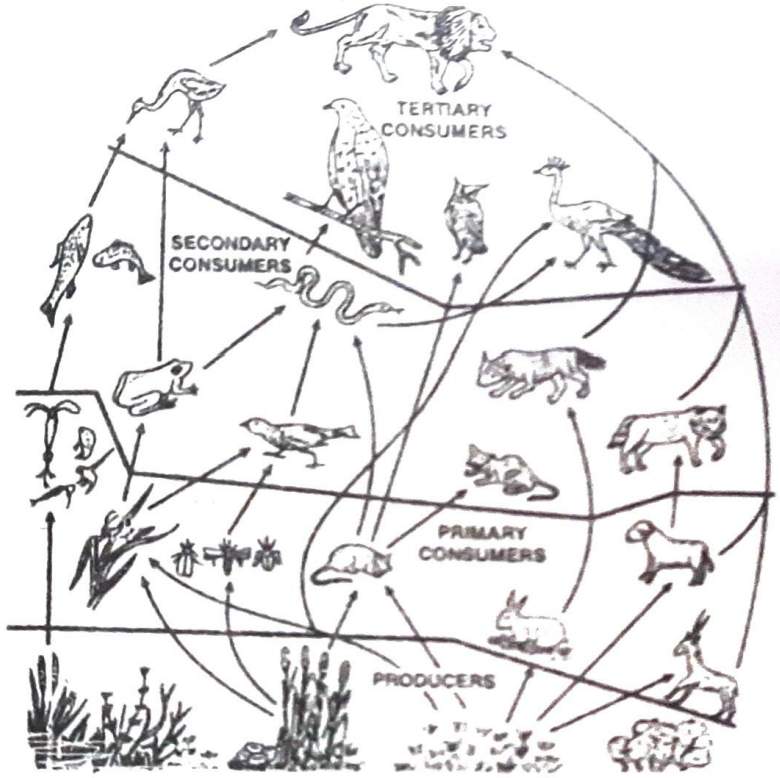
खाद्य जाल के वैकल्पिक पथ (Alternative pathways) खाद्य श्रृंखला में नहीं पाये जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के वैकल्पिक पथ खाद्य जाल की स्थिरता बनाये रखने के लिये बहुत उपयोगी होते हैं। जैसे–

यदि किसी क्षेत्र में खरगोश की संख्या कम हो जाती है, तो उल्लुओं (owls) के भूखे मर जाने की सम्भावना पैदा हो जाती है। परन्तु खरगोश के कम होने से अधिक घास बची रहती है और जिससे चूहों की सख्या बढ़ने में मदद होती है। अतः ऐसी अवस्था में उल्लू खरगोशों के

स्थान पर चूहे खाने लगते है और बचे हुये खरगोशों को पुनः बढ़ने का अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार खाद्य श्रृंखला में जितने अधिक वैकल्पिक स्रोत होंगे उतनी ही अधिक जीवधारियों के समुदाय की स्थिरता बढ़ने की सम्भावना होगी।

अतः सभी जीवधारियों के जीवित रहने के लिये पारिस्थितिक तंत्र का संतुलित होना अति आवश्यक होता है।

उदाहरणार्थ– यदि पारिस्थितिक तंत्र में प्राथमिक उपभोक्ता उपस्थित नहीं होते, तब उत्पादक, अधिक भीड़ (Over crowding) तथा स्पर्धा (Competition) के कारण नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विशिष्ट प्राकृतिक रोध (Special natural check) के कारण प्रत्येक पारिस्तितिक तंत्र का सन्तुलन बना रहता है।



चित्र– खाद्य जाल

प्रश्न–3. पारिस्थितिक पिरामिड से आप क्या समझते हैं? परितंत्र में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के पिरामिडों का वर्णन कीजिये। [जीवाजी 2005,14,18 भोपाल 2007,15]

अथवा

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–

(a) पारिस्थितिक पिरामिड **(b) ऊर्जा का पिरामिड**

(c) जैवभार का पिरामिड **(d) जैव संख्या का पिरामिड।** [जीवाजी 2008]

उत्तर–पारिस्थितिक पिरामिड (Ecological Pyramids)– वातावरण में पारिस्थितिक तंत्र की प्रत्येक खाद्य श्रृंखला में प्राथमिक उत्पादकों से लेकर मांसाहारियों तक कई पोषण स्तर पाये जाते हैं। यदि हम इन विभिन्न पोषण स्तरों के सभी जीवों की संख्या, भार एवं ऊर्जा की

मात्राओं के अनुपातों की तुलना करें तो हमें एक पिरामिड के समान संरचना प्राप्त होती हैं। जिसे पारिस्थितिक पिरामिड कहते हैं। पारिस्तितिक पिरामिड के आधारीय भाग में उत्पादक उसके ऊपर प्रथम श्रेणी के उपभोक्ता, फिर द्वितीय श्रेणी के उपभोक्ता एवं शीर्ष पर सर्वोच्च श्रेणी के उपभोक्ता का क्रम पाया जाता है।

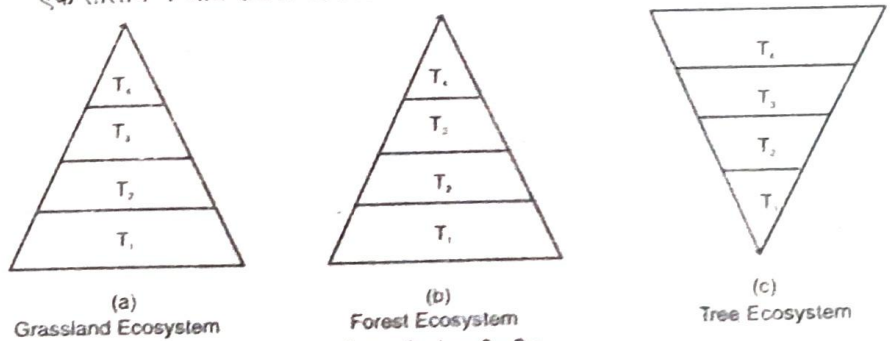
पारिस्थितिक पिरामिडों के प्रकार (Types of Ecological Pyramids)– पारिस्थितिक पिरामिड तीन प्रकार के होते है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) **जीव संख्या का पिरामिड (Pyramid of number)**– प्रत्येक पारिस्थितिक तंत्र में खाद्य श्रृंखला के उत्तरोत्तर पोषण तलों में जीवों की संख्या के अनुपात को प्रदर्शित करने वाला पिरामिड जीव संख्या का पिरामिड कहलाता है। इस प्रकार के पिरामिड में आधार पर उत्पादकों की संख्या सबसे अधिक तथा प्रथम श्रेणी के उपोक्ताओं C_1 की संख्या उससे कम, द्वितीय श्रेणी के उपभोक्ताओं C_2 की संख्या प्रथम श्रेणी के उपभोक्ताओं C_1 से कम व सर्वोच्च श्रेणी के उपभोक्ता जीवों की संख्या सबसे कम होती है। यदि उत्तरोत्तर पोषण स्तरों के जीवों की संख्या पिरामिड द्वारा प्रदर्शित की जाये तो हमें जीव संख्या का सीधा पिरामिड प्राप्त होता है।

उदाहरणार्थ– घास के मैदान तथा वन के पारिस्थितिक तंत्र में जीव संख्या का पिरामिड हमेशा सीधा (upright Pyramid) बनता है।

एक वृक्ष के जीवसंख्या का पारिस्थितिक पिरामिड सदैव उल्टा (Inverted) बनता है, क्योंकि वृक्ष अकेला स्वयं ही मूल उत्पादक होता है। वृक्ष पर उपस्थित फूलों व फलों को खाने वाले पक्षियों (प्रथम श्रेणी के उपभोक्ता) की संख्या अधिक होती है। इसी प्रकार पक्षियों पर परजीवी रूप से पाये जाने वाले कीटों (द्वितीय श्रेणी के उपभोक्ता) की संख्या पक्षियों से भी अधिक होती है। इसी कारण वृक्ष के जीव संख्या का पिरामिड सदैव उल्टा बनता है।

एक तालाब में जीव संख्या का पिरामिड सदैव सीधा बनता है।



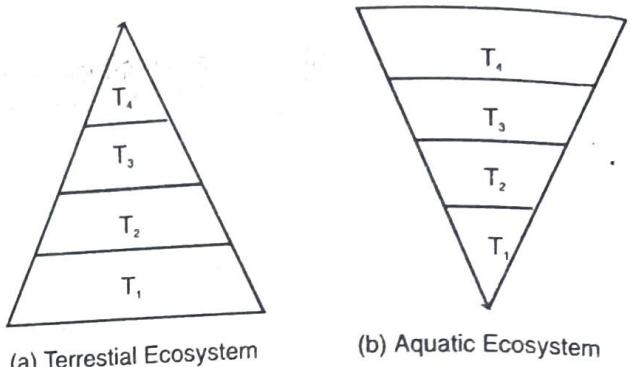
चित्र– जीवसंख्या पिरामिड

(2) **जीव भार का पिरामिड (Pyramid of Biomass)**– प्रत्येक पारिस्थितिक तंत्र की खाद्य श्रृंखलाओं के उत्तरोत्तर पोषण स्तरों में जीवों के सम्पूर्ण जीवभार के अनुपात को प्रदर्शित करने वाले पिरामिड जीवभार के पिरामिड कहलाते हैं।

(a) सभी स्थलीय पारिस्थितिक तंत्र में जीवभार का पिरामिड सदैव सीधा बनता है, क्योंकि इसमें उत्पादकों का जीवभार सबसे अधिक होता है।

उदाहरणार्थ– एक घास के मैदान में जीव भार का पिरामिड व वन के पारिस्तितिक तंत्र में जीवभार का पिरामिड

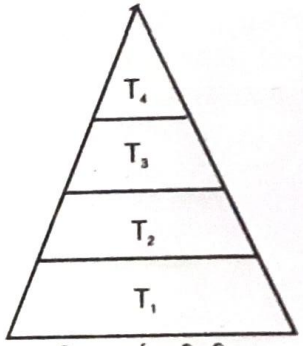
(b) सभी जलीय पारिस्थितिक तंत्रों में जीवभार का पिरामिड सदैव उल्टा बनता है, क्योंकि ऐसे पारिस्थितिक तंत्र में सर्वोच्च श्रेणी के उपभोक्ताओं का जीव–भार सबसे अधिक होता है।



(a) Terrestial Ecosystem (b) Aquatic Ecosystem

चित्र– जीवभार का पिरामिड

(3) **ऊर्जा का पिरामिड (Pyramid of energy)–** प्रकृति में विभिन्न प्रकार की खाद्य श्रृंखलाओं के विभिन्न पोषण स्तरों में एक पोषण स्तर से दूसरे पोषण स्तर तक केवल 10% ऊर्जा का भाग ही स्थानान्तरित होता है व शेष 90% ऊर्जा विभिन्न प्रकार के कार्यों में नष्ट हो जाती है। अतः प्रत्येक प्रकार के पारिस्थितिक तंत्र में ऊर्जा का पिरामिड सदैव सीधा ही बनता है।



चित्र– ऊर्जा का पिरामिड

प्रश्न–4. पारिस्थितिक तंत्र क्या है? इसमें ऊर्जा प्रवाह को समझाईये।

[जीवाजी 2006,15,18 भोपाल 2006,14]

अथवा

पारिस्थितिक तंत्र में ऊर्जा प्रवाह पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये? [जीवाजी 2005 सागर 2007]

उत्तर– पारिस्थितिक तंत्र (Ecosystem)– *वर्णन हेतु प्रश्न क्रमांक 1 का अवलोकन करें।*

पारिस्थितिक तंत्र में ऊर्जा प्रवाह (Energy flow in Ecosystem)– प्रकृति में पाये जाने वाले हरे पौधे ही एक मात्र ऐसे जीव है, जो ऊर्जा या प्रकाश ऊर्जा को खाद्य ऊर्जा अथवा रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित कर देते हैं। अतः हरे पौधे सौर ऊर्जा के प्रमुख स्रोत कहलाते है। इसी सौर ऊर्जा के प्रभाव से सभी पारिस्थितिक तंत्र क्रियान्वित रहते हैं। पारिस्थितिक तंत्र में जब ऊर्जा एक पोषण स्तर से दूसरे पोषण स्तर तक स्थानान्तरित होती है, तो इसमें से केवल ऊर्जा का 10% भाग ही स्थानान्तरित हो पाता है तथा शेष ऊर्जा

विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाओं में व्यय हो जाती है व कुछ ऊर्जा ताप के रूप में नष्ट हो जाती है। हरे पौधे प्रकाश संश्लेषण की क्रिया द्वारा ऊर्जा का केवल 0.2% भाग ही खाद्य पदार्थों के निर्माण में उपयोग कर पाते हैं तथा अपने अंदर पौधे इस ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा के रूप में संचित करके रखते हैं।

सभी प्रकार के पारिस्थितिक तंत्र में क्लोरोफिल युक्त हरे पौधे मूल उत्पादक होते हैं और सूर्य से प्राप्त ऊर्जा का 0.2% भाग ही उपयोग कर पाते हैं और उत्पादकों से इस ऊर्जा का केवल 10% भाग ही प्रथम श्रेणी के उपभोक्ताओं तक स्थानान्तरित हो पाता है, शेष 90% ऊर्जा का भाग अन्य अर्थों में व्यय हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पोषण स्तरों में भी ऊर्जा का केवल 10% भाग ही स्थानान्तरित हो पाता है। इसे ऊर्जा का दस प्रतिशत (10% low) नियम कहते हैं। अतः इस प्रकार ऊर्जा का प्रवाह हमेशा एक दिशीय ही होता है। पेड़ पौधे व अन्य जन्तुओं की मृत्यु के पश्चात् उनका सूक्ष्म जीवों द्वारा रासायनिक अपघटन होता है। और शेष ऊर्जा जीवाणुओं व कवकों द्वारा उपयोग कर ली जाती है। इस प्रकार सूर्य से प्राप्त सौर ऊर्जा रासायनिक ऊर्जा के रूप में सम्पूर्ण पारिस्थितिक तंत्र में उत्तरोत्तर पोषण तलों द्वारा उपयोग में लाई जाती है।

प्रश्न–5. पारिस्थितिक तन्त्र की उत्पादकता से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिये।

[जीवाजी 2007 इन्दौर 2015 जबलपुर 2018]

अथवा

पारिस्थितिक तन्त्र की उत्पादकता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। **[सागर 2008,14,18]**

उत्तर– पारस्थितिक तन्त्र की उत्पादकता– उत्पादकता से अर्थ उत्पादन की दर से होता है कि इकाई समय में कितना कार्बनिक पदार्थ एकत्रित होता है। ये निम्न प्रकार की हो सकती है–

1. **प्राथमिक उत्पादकता–** इसका सम्बन्ध स्वयं पोषी उत्पादकों से होता है जो प्रकाश संश्लेषण द्वारा कार्बनिक भोज्य पदार्थों का निर्माण करते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें रसायन संश्लेषणी जीवाणु (Chemosynthetic Bacteria) भी सम्मिलित होते हैं। अतः प्रकाश संश्लेषण तथा कीमोसिन्थेसिस क्रियाओं से उत्पादकों द्वारा जिस दर से ऊर्जा संग्रहित की जाती है वह प्राथमिक उत्पादकता कहलाती है। ये निम्न प्रकार की होती है–
   - (क) **कुल प्राथमिक उत्पादकता–** इसका अर्थ निश्चित समय में प्रकाश संश्लेषण द्वारा निर्मित समय में प्रकाश संश्लेषण द्वारा निर्मित कार्बनिक पदार्थ से होता है। अतः यह कुल प्रकाश संश्लेषण भी कहलाता है।
   - (ख) **शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता–** इसका अर्थ पौधों के ऊतकों में निश्चित समय में प्रकाश संश्लेषण द्वारा निर्मित कार्बनिक भोज्य पदार्थों के श्वसन के पश्चात् संचित होने की दर से होता है। जो शुद्ध स्वांगीकरण कहलाता है। अर्थात् कुल प्रकाश संश्लेषण में बने कार्बनिक पदार्थों में श्वसन में या अन्य क्रियाओं में काम आने वाली कार्बनिक पदार्थों की मात्रा को घटाकर जो शेष मात्रा बचती है। शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता कहलाती है।

2. **द्वितीयक उत्पादकता–** इसका तात्पर्य उपभोक्ताओं से होता है, अर्थात् उपभोक्ता स्तर पर कितनी ऊर्जा संचित की जाती है उपभोक्ताओं द्वारा भोज्य पदार्थ श्वसन क्रिया में प्रयुक्त होते हैं जिसके द्वारा वे परिवर्तित होकर ऊतकों में पहुँचते हैं। यह उत्पादकता कुल तथा शुद्ध उत्पादकताओं में भिन्नता नहीं होती है।

3. शुद्ध उत्पादकता– इसका तात्पर्य इकाई समय में शुद्ध प्राथमिक उत्पादन में से उपभोक्ताओं द्वारा प्रयोग में लाये गये कार्बनिक पदार्थों को घटाकर शेष बचे कार्बनिक पदार्थ से होता है। इसे प्रायः $Cg/m^2/day$ से प्रदर्शित किया जाता है।

प्रश्न–6. जैव भू–रासायनिक चक्र क्या है? पारिस्थितिक तंत्र में पाये जाने वाले जैव भू–रासायनिक चक्रों का वर्णन कीजिये। [सागर 2005,07,09,15,18 भोपाल 05, जीवाजी 07]

अथवा

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये– [सागर 2005]

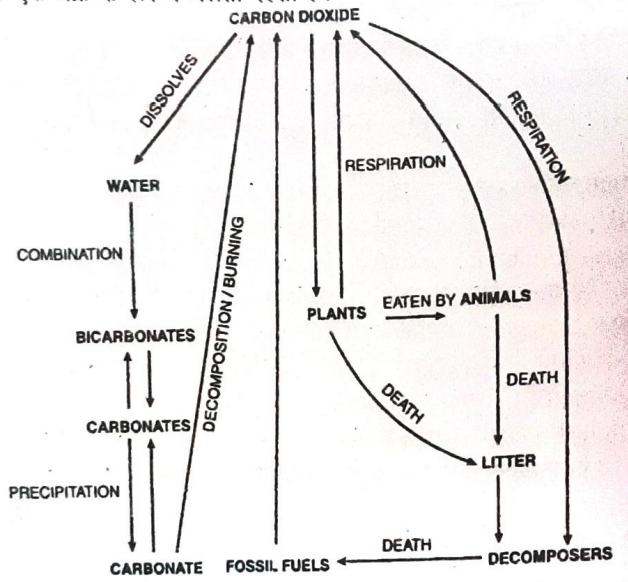
(a) कार्बन चक्र

(b) फॉस्फोरस चक्र

(c) नाइट्रोजन चक्र [जीवाजी 2006, सागर 2006]

(d) जैव भू–रासायनिक चक्र। [रीवा 2007,14]

उत्तर– जैव–भूगर्भी रासायनिक चक्र (Biogeochemical cycles)– प्रकृति में पोषक पदार्थ अजैविक घटकों में एक चक्र के रूप में प्रवाहित होते रहते हैं। इस चक्र को जैव भूगर्भी रासायनिक चक्र (Biogeochemical cycles) कहते हैं। इस चक्र के दौरान जीवों व पर्यावरण में कई जैविक, भौतिक एवं रासायनिक क्रियायें होती रहती हैं तथा प्रकृति में ये क्रियायें सदैव एक चक्र के रूप में चलती रहती हैं।



चित्र– कार्बन चक्र

जैव–भूगर्भी रासायनिक चक्र के प्रकार– प्रकृति में विभिन्न प्रकार के पदार्थों के चक्रीकरण को तीन भागों में बाँटा गया है–

(1) **गैसीय चक्र (Gaseous cycles)–** इस चक्र में चक्रीकरण करने वाले पदार्थों का मुख्य स्रोत जल या वायुमण्डल होता है तथा इसमें चक्रीकरण मुख्य रूप से गैस के रूप में होता है। जैसे– कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन व नाइट्रोजन चक्र।

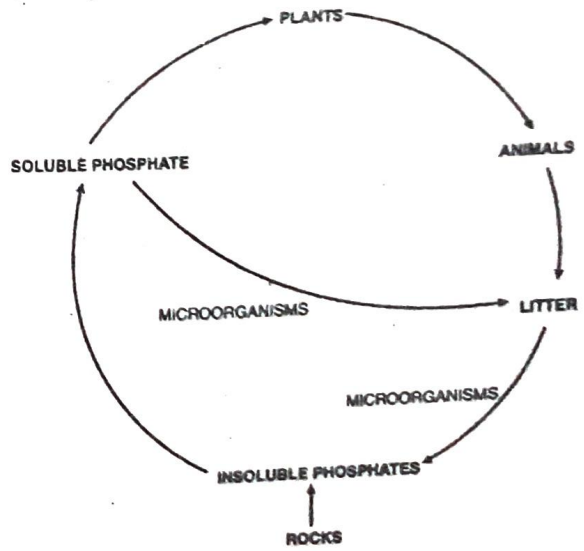
(2) **हाइड्रोलॉजिकल चक्र (Hydrological cycles)–** इस चक्र में मुख्य रूप से जल का चक्रीकरण होता है।

(3) **अवसादी चक्र (Sedimentary cycles)–** इस चक्र में चक्रीकरण करने वाले पदार्थों का प्रमुख स्रोत पृथ्वी की विभिन्न चट्टानें या मृदा अर्थात् स्थल मण्डल (stratosphere) है।

जैसे फॉस्फोरस, कैल्सियम व सल्फर चक्र। ये पदार्थ जल के साथ द्रव रूप में उत्पादकों द्वारा ग्रहण किये जाते है।

1. **कार्बन चक्र (Carbon cycle)–** वातावरण में कार्बन सभी कार्बनिक यौगिकों का मूल तत्व है। जीवधारियों में पाये जाने वाले लगभग सभी कार्बन का मुख्य स्रोत CO_2 है, जो वायुवीय वातावरण तथा जल में घुलनशील रूप में पाया जाता है। हरे पौधे प्रकाश संश्लेषण क्रिया के दौरान वातावरण की CO_2 को अवशोषित करके स्वयं खाद्य–पदार्थों का निर्माण करते है तथा पौधों का उपभोग खाद्य पदार्थों की पूर्ति हेतु शाकाहारी जन्तुओं द्वारा कर लिया जाता है। इसके पश्चात् शाकाहारी जन्तु मांसाहारी जन्तुओं द्वारा खाये जाते हैं और अंत में इन उत्पादकों व उपभोक्ताओं की मृत्यु के पश्चात् अपघटन क्रिया के द्वारा कार्बन पुनः वातावरण में मुक्त हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति में यह चक्र एक गैसीय चक्र के रूप में चलता रहता है।

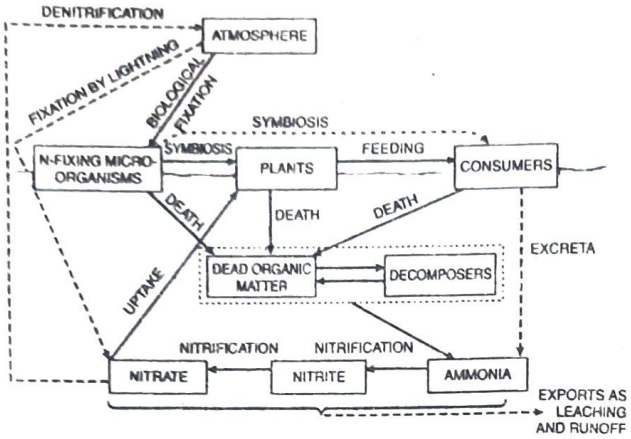
2. **फॉस्फोरस चक्र (Phosphorus cycle)–** फॉस्फोरस सभी जीवधारियों में पाया जाने वाला एक अनिवार्य तत्व होता है। फॉस्फोरस का सबसे बड़ा स्रोत चट्टानों में पाये जाने वाले अघुलनशील फैरिक व कैल्सियम फॉस्फेट्स होते हैं। इस रूप से फॉस्फोरस तनु (dilute) नाइट्रिक अम्ल (Nitric acid) की प्रक्रिया द्वारा घुलनशील रूप में मुक्त होता है। नाइट्रिक अम्ल का निर्माण नाइट्रीफिकेशन के समय होता है। इस प्रकार प्राप्त घुलनशील फॉस्फेट ($CaHPO_4$) पादपों में प्रोटीन संश्लेषण क्रिया में काम आते हैं अथवा यह समुद्री निक्षेप (deposiles) में प्रवेश कर अघुलनशील फॉस्फेट चट्टानों ($Ca_3(PO_4)_2$) के रूप में स्थिर (fixed) हो जाते हैं।



चित्र– फॉस्फोरस चक्र

जीवित प्राणियों के लिये फॉस्फोरस (P) एडीनोसीन ट्राइफॉस्फेट (ATP) के रूप में सार्वत्रिक (Universal) ईंधन (Fuel) होता है।

(3) नाइट्रोजन चक्र **(Nitrogen Cycle)**– प्रकृति में पाये जाने वाले पौधों के लिये N_2 का प्रमुख स्रोत वायुमण्डलीय N_2 है।



चित्र– नाइट्रोजन चक्र

इस वायुमण्डलीय N_2 को विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के द्वारा नाइट्रेट में बदला जाता है। तथा हरे पौधे भूमि से इन नाइट्रेट लवणों को अवशोषित करके उन्हें प्रोटीन में बदल देते हैं। यह प्रोटीनयुक्त N_2 पेड़-पौधों से जन्तुओं में पहुँचती हैं। इसके पश्चात् जन्तुओं द्वारा उत्सर्जित पदार्थों एवं मृत अवशेषों पर विभिन्न जीवाणुओं की विभिन्न क्रियायें होती है। जिसके फलस्वरूप वे पदार्थ नाइट्राइट एवं नाइट्रेट में परिवर्तित कर दिये जाते हैं। इन नाइट्रेटों को हरे पौधों द्वारा पुनः अवशोषित कर लिया जाता है। अथवा विनाइट्रीकरण जीवाणुओं द्वारा उसे अपचयित करके आण्विक नाइट्रोजन में बदल दिया जाता है। तथा यह आण्विक N_2 यौगिकीकरण जीवाणुओं द्वारा फिर से नाइट्रोजनी यौगिकों में बदल दी जाती है। यह यौगिकों की क्रिया फलीदार पौधों में पाये जाने वाले जीवाणु जैसे– राइजोबियम तथा अन्य वृक्षों की जड़ों में पाये जाने वाले जीवाणु, भूमि में रहने वाले कुछ मृतोपजीवी जीवाणु, कुछ नीलहरित शैवालों एवं कुछ कवक मूल कवकों द्वारा सम्पन्न होती है। वायुमण्डल की आण्विक नाइट्रोजन का कुछ भाग् तड़ित एवं वर्षा से ऑक्सीकृत होकर HNO_3 में परिवर्तित हो जाता है और पुनः भूमि में वापस आ जाता है।

प्रश्न–7. जलीय चक्र क्या है? इसके गुण लिखते हुए इसके विभिन्न चरणों को समझाइए।

उत्तर– जल चक्र के गुण– जल चक्र के निम्नलिखित गुण हैं–

(i) जल के वाष्पीकरण के फलस्वरूप वायुमण्डलीय आर्द्रता पायी जाती है, इस प्रकार का वाष्पीकरण बड़ी द्रव सतहों से जो सूर्य की किरणों के लिए अनावरित रहती हैं, के द्वारा होता है।

(ii) आर्द्र वायु की गति द्वारा जलवाष्प बादलों में संघनित हो जाती है और यह ठण्डी होकर विभिन्न प्रकार की वर्षा के रूप में पृथ्वी की सतह पर आती है, जैसे बर्फ, ओले आदि।

(iii) कुल वर्षण का 77% महाद्वीपों की सतह पर पहुँचता है तथा स्थल पर केवल 22.8% रह जाता है जबकि भूमण्डल या ग्लोब सतह का 29% स्थल होता है।

जलीय चक्र– हचिन्सन सन् 1957 ने यह सिद्ध किया कि विश्व में प्रतिवर्ष 4.46×10^{20} g वर्षा होती है जिसका 0.99×10^{20} g पृथ्वी की सतह पर गिरता है तथा शेष 3.47×10^{20} g जल समुद्र एवं नदियों की सतह पर गिरता है।

(1) ऊँचे तथा अधिक ठण्डे पहाड़ों पर बर्फ जम जाती है जो धीरे-धीरे पिघलकर पानी बन जाती है।

(2) पहाड़ी स्थानों से यह पानी बहकर नदियों द्वारा समुद्र में पहुँचता है।

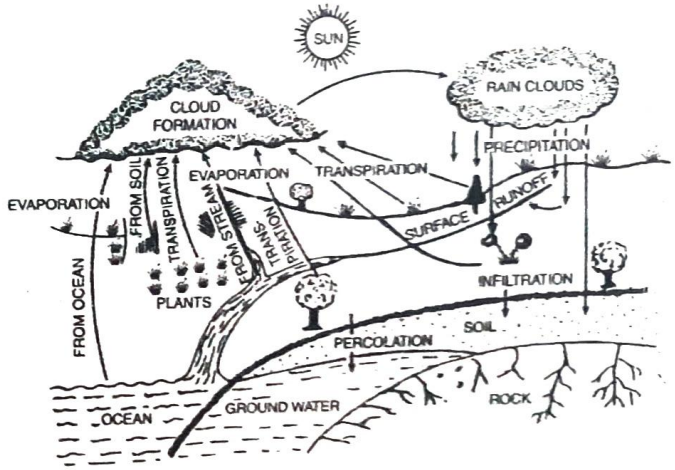
(3) जलीय पौधे अपने शरीर की सतह से जल का अवशोषण करते हैं और स्थलीय पौधे जल का अवशोषण मिट्टी से जड़ों द्वारा करते हैं।

(4) यह जल पौधों में तना, शाखाओं से होकर पत्तियों में पहुँचता है।

(5) पत्तियों द्वारा पानी की अधिक मात्रा को वाष्प द्वारा वात्योत्सर्जन क्रिया द्वारा उड़ा दिया जाता है।

(6) जीवधारियों की मृत्यु के बाद उनके शरीर में उपस्थित जल मिट्टी में मिल जाता है।

(7) इस क्रम द्वारा नदियाँ व समुद्र की सतह से जलवाष्प वर्षा द्वारा पृथ्वी से होकर या जीवधारियों के माध्यम से पुनः वायु एवं समुद्र में मिल जाती है। इस चक्र को जलीय चक्र कहा जाता है।



चित्र– जलीय चक्र

प्रश्न–8. सल्फर चक्र पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर– सल्फर चक्र– यह चक्र एक मिश्रित प्रकार का जैव-भू-रासायनिक चक्र है जो हवा पानी और मृदा को परस्पर सम्बद्ध रखता है। इसमें एक छोटा गैसीय घटक H_2S, SO_2 एवं SO_3 का पाया जाता है। इसका शेष भाग अवसादी है। सल्फर की उपयोग आने वाली अवस्था सल्फेट है तथा अधिकतर जीवों को सल्फर अकार्बनिक सल्फेट के रूप में प्राप्त होता है।

(1) ज्वालामुखी की सक्रियता तथा सल्फाइड्स के अपक्षय से सल्फर डाइऑक्साइड विमुक्त होकर वायु में मिल जाती है।

(2) कारखानों में भी कोयले और खनिज तेलों के दहन से सल्फर डाइऑक्साइड गैस विमुक्त होती है।

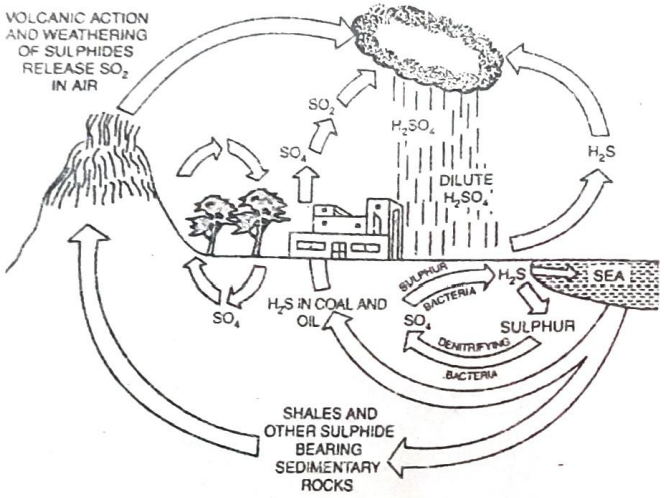
(3) वर्षा होने पर सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2) जल से मिलकर तनु सल्फर का अम्ल (H_2SO_4) बनाती है जो भूमि में प्रवेश करता है और रासायनिक क्रियाओं द्वारा सल्फेट में बदल जाता है।

(4) पौधों में विभिन्न कार्बनिक अणुओं के रूप उपस्थित सल्फर जन्तुओं द्वारा उपयोग कर लिया जाता है।

(5) इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके मृत शरीरों मे कार्बनिक सल्फर उपस्थित रहता है।

(6) मृदा में सल्फर चक्र की सहायता से विभिन्न सूक्ष्मजीवों द्वारा कार्बनिक सल्फर का सल्फर तत्व में अथवा ऑक्सीकृत सल्फर का अपचयित सल्फर में रूपान्तरण होता है।

(7) कुछ विनाइट्रीकारी जीवाणु, जैसे थायोबैसिलस विमुक्त गन्धक को पुनः सल्फेट में बदल देते हैं तथा यह चक्र पुनः चलता रहता है।



चित्र– सल्फर चक्र

इकाई-4

लघु एवं दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त क्या है? वर्णन कीजिये।

उत्तर– महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त– महाद्वीपों के विस्थापित होने की संभावना का सुझाव सर्वप्रथम फ्रांसीसी विद्वान एन्टोनियो स्नाइडर ने 1858 ई. में दिया किन्तु वैज्ञानिकता के अभाव में इस संभावना को नकार दिया गया था। 1910 ई. में टेलर ने स्थल भाग के क्षैतिज स्थानान्तरण को मोड़दार पर्वतों की व्याख्या के क्रम में प्रस्तुत किया किन्तु कई कारणों से इनकी संकल्पना को भी नकार दिया गया। इसके बाद अल्फ्रेड वेगनर ने सन् 1912 में महाद्वीपीय विस्थापन को सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया तथा सन् 1915 में इसकी विस्तृत व्याख्या की।

वेगनर के महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धान्त अनुसार सभी महाद्वीप एक बड़े भूखंड से जुड़े हुए थे। यह भूखंड एक बड़े महासागर से घिरा हुआ था। इस बड़े महाद्वीप को पैंजिया और बड़े महासागर को पैंथालसा नाम दिया गया था। लगभग 20 करोड वर्षों पहले पैंजिया लॉरेशिया और गोंडवाना लैंड नामक दो बड़े भूखंडों में विभाजित हुआ, और बाद में ये खंड टूटकर महाद्वीपों के रूप में परिवर्तित हो गए।

महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त

महाद्वीपीय विस्थापन का सिद्धान्त जर्मन वैज्ञानिक अल्फ्रेड वेगनर द्वारा दिया गया था। वेगनर के अनुसार कार्बोनीफेरस युग में संसार के सभी महादेश एक साथ एकत्रित थे और एक स्थलखण्ड के रूप मे विद्यमान थे। वेगनर ने इसे पैंजिया कहा। पैंजिया मे विभाजन कार्बोनीफेरस युग में प्रारंभ हुआ और महाद्वीपों का वर्तमान स्वरूप पैंजिया के विखण्डन तथा इन विखण्डित हुए स्थलखण्डों के प्रवाहित होकर अलग होने के फलस्वरूप हुआ। वेगनर के अनुसार पैंजिया चारो तरफ से जल से घिरा हुआ था जिसे उसने पैंथालासा कहा। उनके अनुसार महाद्वीपीय ठोस भाग सियाल तथा महासागरीय भू-भाग सीमा पर बना हुआ है जिससे वह सीमा पर तैर रहा है। सीमा के ऊपर तैरते हुए पैंजिया का विखण्डन और प्रवाह मुख्यतः गुरुत्वाकर्षण शक्तियों की असमानता के कारण हुआ। वेगनर के अनुसार जब पैंजिया में विभाजन हुआ तब दो दिशाओं में प्रवाह हुआ- उत्तर या विषुवत् रेखा की ओर तथा पश्चिम की ओर। महाद्वीप विस्थापन के लिए दो बल माने गए हैं–

(1) पोलर या ध्रुवीय फ्लोइंग बल।

(2) सूर्य और चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न ज्वारीय बल।

पृथ्वी पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर घूमती है और ज्वारीय बल पृथ्वी के भ्रमण पर ब्रेक लगाते हैं इस कारण महाद्वीपीय भाग पीछे छूट जाते हैं तथा स्थल भाग पश्चिम की ओर प्रवाहित होने लगते हैं। पैंजिया का गुरुत्व बल एवं प्लवनशीलता के बल के कारण दो भागों में विखण्डन हुआ। उत्तरी भाग लॉरेशिया या अंगारालैण्ड तथा दक्षिणी भाग गोंडवानालैंड कहलाया। बीच का भाग टेथिज सागर के रूप में बदल गया। जुरैसिक काल में गोंडवानालैंड का विभाजन हुआ तथा ज्वारीय बल के कारण प्रायद्वीपीय भारत, मेडागास्कर, ऑस्ट्रेलिया तथा अंटार्कटिका गोंडवानालैंड से अलग होकर प्रवाहित हो गये। इसी समय उत्तरी व दक्षिण अमेरिका ज्वारीय बल के कारण पश्चिम की ओर प्रवाहित हो गये। पश्चिम दिशा में प्रवाहित होने के क्रम में सीमा के रूकावट के कारण पश्चिम भाग रॉकी तथा एंडीज पर्वतों का निर्माण हुआ। प्रायद्वीपीय भारत के उत्तर की ओर प्रवाहित होने के कारण हिन्द महासागर तथा दोनों अमेरिकी महाद्वीपों के पश्चिम की ओर प्रवाहित होने के कारण अटलांटिक महासागर का निर्माण हुआ। आर्कटिक सागर तथा उत्तरी ध्रुव सागर का निर्माण महाद्वीपों के उत्तरी ध्रुवों से हटने के फलस्वरूप हुआ। कई दिशाओं के, अतिक्रमण के कारण पेंथालासा का आकार संकुचित हो गया।

प्रश्न–2. महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त किसने और कब दिया था?

उत्तर– जर्मन मौसमविद् अल्फ्रेड वेगनर ने सन् 1912 में ''महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त'' प्रस्तावित किया। यह सिद्धान्त महाद्वीप एवं महासागरों के विस्थापन से संबंधित था।

प्रश्न–3. महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त क्या है?

उत्तर– महाद्वीपीय विस्थापन का सिद्धान्त जर्मन वैज्ञानिक अल्फ्रेड वेगनर द्वारा दिया गया था। इसके अनुसार सभी महाद्वीप एक बड़े भूखंड से जुड़े हुए थे। यह भूखंड एक बड़े महासागर से घिरा हुआ था। इस बड़े महाद्वीप को पैंजिया और बड़े महासागर को पैंथालसा नाम दिया गया।

प्रश्न–4. महाद्वीपीय बहाव कब शुरू हुआ?

उत्तर– पैंजिया लगभग 240 मिलियन वर्ष पहले अस्तित्व में था। लगभग 200 मिलियन वर्ष पहले, यह सुपरकॉन्टिनेंट टूटने लगा। लाखों वर्षों में, पैंजिया टुकड़ों में बँट गया जो एक–दूसरे से दूर चला गया। इन टुकड़ों ने धीरे–धीरे अपना स्थान उस महाद्वीप के रूप में ग्रहण कर लिया।

प्रश्न–5. पृथ्वी पर पहला महाद्वीप कौन सा था?

उत्तर– लगभग 300–200 मिलियन वर्ष पहले (पैलियोजोइक युग से लेकर ट्राइसिक युग तक), जिस महाद्वीप को अब हम उत्तरी अमेरिका के रूप में जानते हैं, वह अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका और यूरोप से सटा हुआ था। वे सभी पैंजिया नामक एक ही महाद्वीप के रूप में अस्तित्व में थे।

स्थानिकवाद की परिभाषा– स्थानिकवाद स्थानिक होने की स्थिति है, या किसी क्षेत्र या क्षेत्र में भौगोलिक वितरण में प्रतिबंधित है। क्षेत्र या क्षेत्र आकार में भिन्न हो सकता है, और विभिन्न तरीकों से परिभाषित या पहचाना जाता है। स्थानिकवाद एक पारिस्थितिक वर्गीकरण है जिसमें यह किसी प्रजाति या प्रजातियों के समूह की सीमा या वितरण का वर्णन करता है। उदाहरण के लिए, पक्षियों की विभिन्न प्रजातियों के पूरे परिवार मेडागास्कर द्वीप के लिए स्थानिक है। स्थानिकवाद शब्द बीमारियों और प्राकृतिक घटनाओं सहित कई चीजों पर लागू हो सकता है। इन मामलों में स्थानिकवाद एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र या क्षेत्र के भीतर कुछ माप अवलोकन के ''सामान्य'' या मानक स्तर को संदर्भित करता है।

स्थानिकवाद को स्वदेशी के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। यह एक शब्द है जो किसी प्रजाति की उत्पत्ति को संदर्भित करता है। स्वदेशी से तात्पर्य है कि किसी समूह की उत्पत्ति कहाँ से हुई? एक प्रजाति किसी क्षेत्र के लिए स्थानिक और स्वदेशी दोनों हो सकती है। हालांकि, कुछ प्रजातियाँ पनपती हैं और अपने मूल स्वदेशी स्थान की सीमाओं को पार कर सकती हैं। इसका मतलब यह है कि प्रजाति अब स्थानिक नहीं हैं, लेकिन अभी भी मूल क्षेत्र के लिए स्वदेशी है। एक बार जब कोई प्रजाति व्यापक, वैश्विक वितरण तक पहुँच जाती है तो उसे सर्वदेशीय कहा जाता है। व्हेल जैसे जानवर, जो कभी अपने चार पैर वाले पूर्वजों के रूप में एक विशिष्ट मुख्य भूमि के मूल निवासी थे, वे अब वितरण में विश्वव्यापी हैं।

स्थानिक प्रजातियाँ– स्थानिक प्रजाति वह प्रजाति है जो भौगोलिक रूप से किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित होती है। किसी प्रजाति में स्थानिकवाद अन्य क्षेत्रों में विलुप्त हो रही प्रजाति के माध्यम से उत्पन्न हो सकता है। इसे पैलियोएंडेमिज्म कहा जाता है, वैकल्पिक रूप से, नई प्रजातियाँ हमेशा उस क्षेत्र की स्थानिक होती हैं जहाँ वे पहली बार दिखाई देती हैं। इसे नवस्थानवाद कहा जाता है।

स्थानिक प्रजातियाँ, चाहे वे किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित क्यों न हों, अपने अस्तित्व के लिए समान खतरों का अनुभव करती हैं। यह क्षेत्र जितना छोटा होगा, प्रजातियों के अस्तित्व के प्रति खतरा उतना ही अधिक गंभीर होगा। कोई भी कार्रवाई जो भूमि के आकार को कम करती है, या इसे किसी भी तरह से विभाजित करती है, स्थानिक प्रजातियों के सामान्य पैटर्न को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित कर सकती है। जबकि स्थानिकवाद और लुप्तप्राय या खतरे में होना अलग–अलग चीजें हैं, एक छोटे क्षेत्र के लिए स्थानिक होना अक्सर एक चेतावनी संकेत है कि एक प्रजाति खतरे में पड़ सकती है या लुप्तप्राय हो सकती है।

यह मामला हमेशा नहीं होता है, क्योंकि विश्व–स्तर पर वितरित कई प्रजातियों को भी संकटग्रस्त या लुप्तप्राय माना जाता है। हाल के वर्षों में, कई शार्क इस सूची में शामिल हो गई हैं जबकि वे समुद्र के कई जल में वितरित हैं। सूप के लिए शार्क पंखों की कटाई ने विश्व स्तर पर उनकी आबादी को कम कर दिया है।

स्थानिकवाद कभी–कभी प्रजातियों को विश्व स्तर पर शोषण से बचाता है, केवल इस तथ्य के कारण कि प्रजातियाँ केवल एक छोटे से क्षेत्र में मौजूद हैं। इससे प्रजातियों की रक्षा करना भी आसान हो सकता है, क्योंकि भूमि पर निर्माण और मानव प्रभाव को प्रतिबंधित करने के लिए भूमि को संरक्षण सुविधा के तहत रखा जा सकता है।

स्थानिक रोग– महामारी विज्ञान, या बीमारी के प्रकोप का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों के पास स्थानिकवाद की एक समान परिभाषा है। स्थानिक बीमारी वह बीमारी है जो विशिष्ट स्थान पर लगातार स्तरों पर देखी जाती है। उदाहरण के लिए, स्थानिक पुनरावर्ती बुखार यूरोप और उत्तरी अमेरिका में देखी जाने वाली एक बीमारी है। विश्व के अन्य भागों में यह रोग किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष मात्रा में नहीं देखा जाता है। अन्य बीमारियाँ, जो किसी क्षेत्र में नई हैं या उनकी व्यापकता में वृद्धि हो रही है, महामारी रोग कहलाती हैं।

कई स्थानिक रोग और उनकी स्थानिकता की जड़ें उन प्रजातियों और वाहकों में हैं जो इन रोगों को बढ़ावा देते हैं। दोबारा आने वाले बुखार की स्थिति में, एक रोगवाहक बोरेलिया प्रजाति के जीवाणु को वहन करता है। ऐसे कई वाहक हैं जो इन जीवाणुओं को ले जा सकते हैं, जिनमें अधिकतर टिक्स और जूँ की प्रजातियाँ उत्तरी गोलार्ध में स्थानिक हैं। बोरेलिया बैक्टीरिया लाइम रोग के लिए भी जिम्मेदार है, जो उत्तरी गोलार्ध में पाई जाने वाली एक बीमारी है। यह टिक और जूँ प्रजातियों में देखी जाने वाली स्थानिकता से मेल खाती है।

जबकि लाइम रोग और बार–बार आने वाला बुखार इन क्षेत्रों में स्थानिक है, कहने को तो ये ऑस्ट्रेलिया में स्थानिक नहीं है। यदि ऑस्ट्रेलिया में लाइम रोग के कुछ मामले भी होते, तो इस बीमारी को महामारी माना जाता, क्योंकि ऑस्ट्रेलिया में लाइम रोग का सामान्य स्तर शून्य है।

स्थानिकवाद के उदाहरण–

(1) पुरापाषाणवाद– किसी प्रजाति के लिए किसी निश्चित क्षेत्र में स्थानिकता दिखाने के दो बुनियादी तरीके हैं। मूल रूप से, दोनों के बीच अन्तर यह है कि प्रजाति क्या नई उभर रही है, या ऐतिहासिक रूप से और घट रही है। पुरापाषाणवाद बाद का वर्णन करता है। स्थानिकवाद के इस रूप में, एक प्रजाति जो कभी व्यापक थी, उसे बहुत छोटी सीमा में सीमित कर दिया गया है। आज कई बड़े शिकारियों का यही हाल है।

मनुष्यों से पहले, बड़े शिकारी दुनिया भर में व्यापक रूप से फैले हुए थे। जैसे–जैसे मानव समाज अधिक संगठित होता गया, बड़े शिकारियों को समाज से और उनकी ऐतिहासिक सीमाओं से बाहर कर दिया गया। जो विलुप्त नहीं हुए हैं वे अब सीमित दायरे तक सीमित हैं। इन जानवरों के संरक्षण के प्रयास वर्तमान सीमा की रक्षा करने और ऐतिहासिक सीमा को शामिल करने के लिए इसका विस्तार करने पर केन्द्रित हैं। हालांकि यह कठिन है, क्योंकि मनुष्य अक्सर बड़े शिकारियों के पुनःप्रवेश का विरोध करते हैं। शिकारियों से सुरक्षा के बिना, प्रजातियाँ आसानी से अपनी स्थानिक सीमा में वापस धकेल दी जाएंगी।

(2) नवस्थानवाद– दूसरी ओर, प्रतिदिन नई प्रजातियाँ विकासवादी वृक्ष से अलग हो रही हैं। ये प्रजातियाँ उस स्थान के लिए स्थानिक और स्वदेशी दोनों हैं जहाँ वे पहली बार दिखाई दीं। वे एक भौगोलिक स्थान तक ही सीमित हैं क्योंकि वहीं से उनकी शुरूआत हुई थी। इसे नवस्थानवाद के नाम से जाना जाता है। द्वीपों पर कई प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जो स्थानिकता के इस रूप को दर्शाती हैं।

द्वीप नई प्रजातियों के विकास के लिए दिलचस्प और पृथक आधार प्रदान करते है। जबकि द्वीप पर प्रजातियाँ अब स्थानिक हैं, उनके पूर्वज संभवतः नहीं थे। उदाहरण के तौर पर गैलापागोस फिंच को लें। गैलापागोस द्वीपसमूह में कई द्वीप हैं। कई हजार वर्ष पहले, एक अकेली फिंच प्रजाति द्वीपों पर आई थी। सबसे पहले, यह एक प्रजाति के रूप में पूरे द्वीप में फैल गयी।

हालांकि, विकास ने अब पक्षियों को इतना अलग कर दिया है कि वे विभिन्न प्रजातियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। द्वीपों पर वनस्पति में अन्तर ने पूर्वजों को कई छोटी प्रजातियों में विभाजित कर दिया, जो उस द्वीप के लिए स्थानिकता को दर्शाता है जिस पर वे पाये जाते हैं।

प्रश्न–6. जैव भौगौलिकी से आप क्या समझते हैं? भारतवर्ष के प्रमुख जैव भौगोलिक क्षेत्रों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

अथवा

भारतवर्ष में पाये जाने वाले प्रमुख पादप भौगोलिक क्षेत्रों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

उत्तर– ससार के सभी क्षेत्रों में उपस्थित समस्त वनस्पति एवं जन्तुओं की उत्पत्ति व उनके वितरण तथा अन्तर्सम्बन्धों का वातावरण के साथ अध्ययन ही जैव–भौगोलिकी कहलाता है। जैव भौगोलिकी के अन्तर्गत पृथ्वी पर उपस्थित केवल पादपों के वितरण का अध्ययन ही पादप भौगोलिकी कहलाता है।

पादप– भौगोलिकी के प्रकार (Types of Phytogeography)– पादप भौगोलिकी को दो शीर्षक के अन्तर्गत विभाजित किया गया है–

(1) **स्टैटिक या वर्णनात्मक पादप भौगोलिकी (Static or Descriptive Phytogeography)–** इसके अन्तर्गत पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित फ्लोरा फौना (Flora fauna) या वनस्पति (Vegetation) का अध्ययन किया जाता है।

(2) **डायनेमिक या विश्लेषणात्मक पादप भौगोलिकी (Dynamic or Interpretive Phytogeography)–** इसके अन्तर्गत पृथ्वी पर पाये जाने वाले विभिन्न पौधों के वितरण के कारणों (Causes) का अध्ययन किया जाता है।

भारत में पाये जाने वाले प्रमुख पादप भौगोलिक क्षेत्र (Phytogeographical regions of India)– भारतवर्ष में विभिन्न पादप भौगौलिक क्षेत्र पाये जाते हैं तथा इन क्षेत्रों में पायी जाने वाली विभिन्न वनस्पतियाँ लगभग मिलती–जुलती हैं।

भारत के उपमहाद्वीप पैलियोट्रॉपिकल (Palaeo tropical Kingdom) को मलायन सब किंगडम (Malayan sub kingdom) में रखा गया है तथा अध्ययन की सुविधा के लिये विभिन्न वैज्ञानिकों ने इसे अपने–अपने तरीके से कई क्षेत्रों में विभाजित किया है–

(i) क्लार्क (Clarke, 1898) ने इसे 21 क्षेत्रों में बाँटा है।

(ii) हूकर (Hooker, 1907) ने इसे 9 पादप भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा है।

(iii) चटर्जी (Chatarjee, 1962) ने इसे 8 पादप भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा है, जो निम्नलिखित है–

(1) डेकन (Deccan) (2) इण्डस प्लैन (Indus plain) (3) मालाबार (Malabar) (4) आसाम (Assam) (5) गैंगटिक प्लैन (Gangetic plain) (6) पूर्वी हिमालय (Eastern Himalaya) (7) पश्चिमी हिमालय (Western Himalaya) (8) केन्द्रीय हिमालय (Central Himalaya).

(1) डेकन प्रदेश (Deccan region)– मालाबार के पूर्वी भाग से लेकर सतपुड़ा के दक्षिणी भाग तक के क्षेत्र में डेकन प्रदेश स्थित है। डेकन प्रदेश के अन्तर्गत पश्चिमी घाट

आता है। यहाँ की औसत वर्षा 40" होती है तथा यहाँ के प्रमुख वानस्पतिक भाग दक्षिणी गुजरात (South Gujrat), दक्षिणी बिहार (South Bihar), मध्यप्रदेश (M.P.), उड़ीसा (Orissa) व तमिलनाडु (Tamilnadu) हैं। यहाँ पर अकेशिया अरेबिका (Accacia arebica), एण्ड्रोपोगॉन (Andropogon), प्रोसोपिज (Prosopis), एरिस्टिडा (Aristida), कैपेरिस डाइवर्सीफोलिया (Capparis diversifolia), बुकनेरिया (Buchnania), व यूफोर्बिया (Euphorbia) की विभिन्न पादप जातियाँ पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश में चंदन के वन (Sandat Forests) अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

(2) इण्डस प्लैन (Indus Plain)– इसे इण्डोगैंगेटिक डिप्रेशन (Indo gangetic depression) के अन्तर्गत रखा गया है। इसके अन्तर्गत पंजाब, राजस्थान, कच्छ (Kutch) एवं दिल्ली आदि क्षेत्र आते हैं। यहाँ पर औसतन वर्षा 30" से कम होती है तथा जबकि इस प्रदेश के शुष्क क्षेत्रों में तो 5" से भी कम औसत वर्षा होती है। इस प्रदेश में पाये जाने वाले वनों में बौने पौधों की अधिकता होती है। ये पौधे सैलाइन भूमि में पाये जाते हैं। इसमें मृदा की सैलिनिटी साल्सोला फिटिडा (Salsola phoetida) एवं लुनख घास (Lunakh grass) के द्वारा प्रदर्शित होती है। यहाँ पर अकेशिया अरेबिका (Accacia arabica), साल्वेडोरा पर्सिका (Salvadora persica), प्रोसोपिस स्पीसीजेरा (Prosopis spicigera), कैपेरिस एपाइला (Capparis aphyla) एवं यूजीनिया व मैंगीफेरा (Mangifera) आदि के वृक्ष पाये जाते हैं।

(3) मालावार प्रदेश (Malabar Region)– यह क्षेत्र अत्यधिक हरियाली से परिपूर्ण होता है क्योंकि यहाँ के पेनिनसुलर पर्वतों पर मुख्यतः ऊष्णकटिबंधीय सदाबहार (Tropical evergreen), मिश्रित पर्णपाती (Deciduous) एवं उपोष्ण (Subtropical) अथवा शीतोष्ण वन (Temperate forests) पाये जाते हैं। मालाबार प्रदेश के अन्तर्गत पर्वतीय प्रदेशों के आर्द्र बेल्ट (Humid belt) पाये जाते हैं। मालाबार प्रदेश के पश्चिमी तट (West coast) में बहुत अधिक वर्षा होती है तथा इसके पश्चिमी भाग में कोंकण (Konkan), कनारा (Kanara), कोचीन (Cochin), ट्रावनकोर (Travancore) एवं लक्षद्वीप (Laccedive) आदि क्षेत्र आते हैं। मालाबार प्रदेश में पाये जाने वाले वनों में उपरिरोही ऑर्किड्स (Epiphytic orchids) अधिकता में मिलते हैं।

(4) आसाम (Assam)– इस क्षेत्र की वनस्पति सदाबहार एवं हरी–भरी होती है, तथा इसके अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र की घाटी (Valleys of Brahmputra), नागा की पहाड़िया (Naga hills), बर्मा (Burma), मणिपुर (Manipur) एवं लुशाई (Lushai) आदि क्षेत्र आते हैं। आसाम प्रदेश में औसतन वर्षा 80" या इससे अधिक होती है। इस प्रदेश में मुख्यतः माइकेलिया चम्पाका (Michelia champaka), एट्रोकार्पस (Atrocarpus), पाइनस खासिया (Pinus khasiya), मेसुआ फेरिया (Mesua Ferrea), फाइकस इलास्टिका (Ficus elastica) एवं डिलेनिया इण्डिका (Dillenia indica) आदि पौधे पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्तत इस प्रदेश में आरोही (Climbers), कैन्स (Canes) एवं सदाबहार झाड़ियाँ (Evergreen shurbs) भी पाये जाते हैं।

(5) गैंगटिक प्लैन (Gangetic Plain)– इसे इण्डोगैंगेटिक डिप्रेशन के अन्तर्गत रखा गया है। इसलिये इसे गंगा का मैदान भी कहते हैं। यह क्षेत्र पूर्वी पंजाब (Eastern Punjab) से बंगाल के सुंदरवन (Sundar bans) तथा दिल्ली, उत्तर प्रदेश व उड़ीसा तक फैला हुआ है। यहाँ पर मुख्यतः राइजोफोरा (Rhizophora), ऐवोसीनिया (Avocennia) तथा सोन्नेरेशिया (Sonneratia) आदि पौधे पाये जाते हैं। ये मैंग्रोव वनस्पति (Mangrove vegetation) बनाते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर बाहुनिया (Bahunia) की प्रजातियाँ, यूजीनिया (Eugenia),

टर्मिनेलिया टोमेन्टोसा (Terminalia tomentosa), टर्मिनेलिया बेलेरिका (Terminalia belerica) व फाइलैन्थस (Phyllanthus) आदि पौधे अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

(6) **पूर्वी हिमालय (Eastern Himalaya)**– यह भाग सिक्किम (Sikkim) से ऊपरी आसाम (Upper Assam) तक फैला हुआ है तथा उत्तरी व दक्षिणी ओर से घिरा हुआ है। यहाँ ताप व आर्द्रता अधिक होती है तथा यहाँ पर मानसून वर्षा अत्यधिक व हिमपात (Scanty snow fall) कम होता है। पूर्वी हिमालय को अत्यधिक ऊँचाई के कारण तीन क्षेत्रों में विभाजित किया गया है–

(i) ऊष्ण कटिबंधीय क्षेत्र (Tropical Zone) (ii) शीतोष्ण क्षेत्र (Temperate zone)
(iii) अल्पाइन क्षेत्र (Alpine zone)

(i) ऊष्ण कटिबंधीय क्षेत्र (Tropical Zone)– यह क्षेत्र 5000 फीट की ऊँचाई तक स्थित है। यहाँ की वनस्पति मिश्रित होती है। इसलिये यहाँ पर सैकेरम नैरेगां (Saccharum narenga) के पौधों की अधिकता होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर बॉम्बेक्स मालाबेरिकम (Bombax Malabaricum), ऐन्थोसिफेलस कदम्बा (Anthocephalus cadamba), तथा स्टरबुलिया सहित मिश्रित पर्णपाती वन (Mixed decious forest), साल्मेलिया (Salmallia), बिश्चोफिया जाबानिका (Bischofia Jabanica) एवं एल्बीजिया प्रोसेरा (Albezzia procera) जैसे सालाना आदि पौधे पाये जाते हैं तथा इसके साथ–साथ डलबर्जिया सिसू (Dalbergia sisso), अकेशिया केटेचू (Acacia catechu), डिलेनिया इंडिका (Dillenia Indica), माइकेलिया चम्पाका (Michalia champaka), व सिन्नामोमम (Cinnamomum) आदि भी पाये जाते हैं।

(ii) शीतोष्ण क्षेत्र (Temperate Zone)– इसमें दो क्षेत्र पाये जाते हैं। निचले शीतोष्ण क्षेत्र व ऊपरी शीतोष्ण क्षेत्र। यह क्षेत्र क्रमशः 5000 फीट से 8000 फीट तथा 8,000 फीट से 12,000 फीट की ऊँचाई तक फैला हुआ है। इसमें ऊपरी शीतोष्ण क्षेत्र में एबीज बेबीयाना (Avies webbiana), लैरिक्स (Larix), पीसिया स्पाइनुलोसा (Picea spinulosa), सुगा ब्रुनोनियाना (Sugabrunoniana) एवं जूनीपर्स (Junipers) जैसे कोनीपर्स, रोडोडेण्ड्रॉन्स (Rhododendrons) व सामान्य बॉस भी पाये जाते हैं तथा इसके निचले शीतोष्ण क्षेत्र में बड़ी–बड़ी पत्तियों वाले पौधे जैसे– मैपल (Maples), चेस्टनट (Chestnut), क्वरकस लिनीटा (Quercus lineata), मैग्नोलिया (Magnolias) एवं बिर्च (Birch) आदि पौधे पाये जाते हैं।

(iii) अल्पाइन क्षेत्र (Alpine Zone)– यह क्षेत्र 12,000 फीट ऊँचाई से प्रारम्भ होकर कई मील ऊँचाई तक फैला होता है। इस क्षेत्र में मुख्यतः रोडोडैण्ड्रॉन (Rhododendron) एवं जूनीपर्स (Junipers) की झाड़ीनुमा प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

(7) **पश्चिमी हिमालय (Western Himalaya)**– यह क्षेत्र कुमायूँ (Kumaon) से कश्मीर (Kashmir) तक फैला हुआ है। अतः इसके अन्तर्गत कश्मीर (Kashmir) के मध्य उपस्थित हिमालय पर्वत आता है। इस क्षेत्र में औसतन वर्षा 40" से 80" तक होती है, किन्तु कुछ स्थानों पर 100" से अधिक वर्षा भी होती है। पूर्वी हिमालय के समान इस क्षेत्र को भी तीन प्रक्षेत्रों (Zones) में वर्गीकृत किया गया है–

(i) ऊष्णकटिबंधीय क्षेत्र (Tropical zones) (ii) शीतोष्ण क्षेत्र (Temperate zones)
(iii) अल्पाइन क्षेत्र (Alpine region)

(i) ऊष्णकटिबंधीय क्षेत्र **(Tropical Zones)**– यह क्षेत्र 5,000 फीट की ऊँचाई में स्थित होता है। इस क्षेत्र में मिश्रित पर्णपाती वन (mixed deciduous forest), रिवेरियन वन (Riverian forest), साल वन (Sal forest) तथा बाँस (Bamboo) व सवाना (Savannah) आदि के वन पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ पर रोडोडैण्ड्रॉन आरबोरियम (Rhododendrone orboreum), एल्मस (Elms), मैपल्स (Maples) व बालनट्स (Walnuts) आदि भी पाये जाते हैं।

(ii) शीतोष्ण क्षेत्र **(Temperate zones)**– इस क्षेत्र में बड़ी पत्ती वाले पौधे (Broad leaved plants) एवं कोनीफर्स (Conifers) पाये जाते हैं तथा कोनीफर्स के अन्तर्गत इसमें एबीज पिनड्रो (Avies pindrow), पाइनस जिरार्डियाना (Pinus gerardiana), पाइनस इक्सेला (Pinus excela), पा. रॉक्सवरघाई (P. Roxburghi), पीसिया मोरिण्डा (Picea morinda), सिड्रस देवदारा (Cedrus deodara) आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में ओक वनस्पति (Oak Vegetation), क्वरकस इन्काना (Quercus incana), व क्वरकस डाइलेटा (Q. dilata) आदि पौधे भी पाये जाते हैं।

(iii) अल्पाइन क्षेत्र **(Alpine Region)**– 15,000 फीट की ऊँचाई तक यह क्षेत्र पाया जाता है। इस क्षेत्र में जूनीपर्स (Junipens), रोडोडैण्ड्रॉन (Rhododendron), बेटुला यूटीलिस (Betula uitlis) आदि पौधे मुख्यतः पाये जाते हैं। इन पौधों की ऊँचाई 13,000 फीट तक ही सीमित होती है। इसके बाद इस क्षेत्र में कुछ छोटे–छोटे शाकीय पौधे (Small herbs), मॉसेस (mossess) एवं लाइकेन्स (Lichens) आदि 15,000फीट की ऊँचाई तक पाये जाते हैं। अल्पाइन क्षेत्रों का ऊपरी भाग बर्फ से ढँका रहता है। इसलिये यहाँ पर किसी भी प्रकार की वनस्पति नहीं पाई जाती है।

(8) **केन्द्रीय हिमालय (Central Himalaya)**– पूर्वी हिमालय एवं पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के मध्य का भाग केन्द्रीय हिमालय (Central Himalaya) कहलाता है। इस क्षेत्र में यूजीनिया (Eugenia), क्वरकस (Quercus) एवं टेक्सस (Texus) की प्रजातियाँ अधिक संख्या में पायी जाती है।

प्रश्न–7. जैव–विविधता किसे कहते हैं? ये कितने प्रकार की होती है? इसके संरक्षण पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। **[जीवाजी 2012,15 भोपाल 2014,18]**

अथवा

जैव–विविधता क्या है? जैव–विविधता की कमी के कारणों का उल्लेख कीजिये।

अथवा

जैव विविधता के मूल्य क्या है? जैव विविधता को किस प्रकार के खतरे हैं?

अथवा

जैव विविधता का संस्थितिक संरक्षण कैसे करेंगे? वर्णन कीजिये।

उत्तर– जैव–विविधता शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्टर जी. रोसेन (Walter G. Roasen) ने सन् 1986 में पौधों, जन्तुओं और सूक्ष्म जीवों के विभिन्न प्रकारों और उनमें विविधताओं को प्रदर्शित करने के लिये किया था। जैव–विविधता का अर्थ सभी जीवों एवं पारिस्थितिक तंत्र की जटिलताओं से है, जिसमें वे पाये जाते है तथा उनमें पाये जाने वाले विभेदों एवं विभेदनशीलता से है। जैव–विविधता में जीवों ने जनसंख्या, समुदाय एवं जैव–मण्डल के स्तरों पर व्याप्त विविधता आती है। अथवा दूसरे शब्दों में जैव विविधता से आशय

समस्त जीवों जैसे- पादपों, जन्तुओं एवं सूक्ष्म जीवों की जातियों की विपुलता से है जो कि किसी निश्चित आवास में पारस्परिक अंतरक्रियात्मक तंत्र की भाँति उत्पन्न होती है।

जैव-विविधता के प्रकार- जैव विविधता को तीन वर्गों में बाँटा गया है

(1) **आनुवंशिकी विविधता-** जातियों के अंदर आनुवंशिक विविधता पायी जाती है जिससे विभिन्न जातियों में आसानी से विभेद किया जा सकता है। अतः जातियों के अन्दर आनुवंशिक विभेद को ही आनुवंशिक विविधता कहते हैं।

(2) **जातीय विविधता-** विभिन्न जातियों के अंदर भी विभेद होता है, जिसे जातीय विविधता के नाम से जाना जाता है।

(3) **पारिस्थितिक तंत्र की विविधता-** पारिस्थितिक तंत्र की विविधता से आशय पारिस्थितिक तंत्र में पाये जाने वाले विभिन्न थलरूपों से है, जिनमें विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ एवं जन्तु आश्रय प्राप्त करते हैं।

जैव-विविधता का संरक्षण (Conservation of Biodiversity)- आबादी में लगातार वृद्धि के कारण जैव-विविधता में कमी आती जा रही है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निवारण के लिये वनों की लगातार कटाई कर रहा है, जिसके परिणामस्वरूप जीवों के रहने के स्थान समाप्त होते जा रहे हैं। अतः पर्यावरण तथा विकास की समस्याओं के निवारण के लिये जैव-विविधता का संरक्षण आवश्यक हो गया है। इसके लिये भारत सरकार के वन तथा पर्यावरण मंत्रालय ने कई कार्यक्रमों को स्वीकृति देकर उन पर क्रियान्वयन करना शुरू कर दिया है। इसके हर कार्यक्रम में भविष्य में प्राकृतिक आवास में वृद्धि किये जाने का भी प्रावधान रखा गया है। इनमें से मुख्य आवास हैं-

(1) जीवमण्डल रिजर्व्स (2) नमभूमि (3) तुच्छ वनस्पति तथा प्रवाल भित्तियाँ आदि।

जैव-विविधता के संरक्षण की विधियाँ- जैव-विविधता का संरक्षण निम्नलिखित दो विधियों के अन्तर्गत किया गया है-

(1) इन सिटू संरक्षण (In situ conservation)

(2) एक्स सिटू संरक्षण (Ex situ conservation)

(1) इन सिटू संरक्षण- इस प्रकार के संरक्षण में जीवों को उनके प्राकृतिक आवास में ही संरक्षित किया जाता है। अतः इसमें मानव का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। इसमें जीवों को संरक्षित करने के लिये भारत सरकार ने विभिन्न अभ्यारण्यों (सैंचुरिज) की स्थापना की है, जिससे पारिस्थितिकी के विभिन्न अंग विकसित होते हैं और जीवों को संरक्षण प्राप्त होता है। कुछ प्रमुख अभ्यारण्य निम्नलिखित हैं-

(i) राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना। (ii) प्राणी उद्यानों की स्थापना।

(iii) जीवमण्डल रिजर्व्स की स्थापना आदि।

(2) एक्स सिटू संरक्षण (Ex situ conservation)- इस प्रकार के संरक्षण में जीवों को कृत्रिम विधियों द्वारा अर्थात् उनके प्राकृतिक आवास से दूर ले जाकर संरक्षित किया जाता है। इस प्रकार के संरक्षण में आनुवंशिक इंजीनीयरिंग सहायक होती है क्योंकि इसमें जीवों के संरक्षण हेतु आनुवंशिक इंजीनियरिंग की तीन तकनीकियों का उपयोग किया जाता है-

(i) बीज बैंक (ii) जीन बैंक (iii) इन विट्रो।

स्टोरेज विधि (Invitro storage method)- हमारे देश में वर्तमान में विभिन्न संस्थायें व केन्द्र इस क्षेत्र में कार्यरत हैं, जैसे- वानस्पतिक उद्यान, मृग उद्यान, विश्वविद्यालयीन जैविक उद्यान, चिड़ियाघर तथा प्राकृतिक प्रजनन केन्द्र आदि।

जैव-विविधता की कमी के कारण- जैव विविधता के अन्तर्गत एक विशिष्ट क्षेत्र में पाई जाने वाली विभिन्न जातियों के बीच विभेद पाया जाता है। आजकल प्रकृति में जैव विविधता में लगातार कमी आती जा रही है। अतः इस कमी के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

(1) **प्राकृतिक आवासों का नष्ट होना (Destruction of Habitat)-** मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पेड़ पौधों एवं जन्तुओं के प्राकृतिक आवासों को नष्ट कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप इन आवासों में रहने वाले जीव जन्तु दूसरे स्थानों पर चले जाते हैं, जहाँ उनके भोजन में कमी आ जाती है और वे विभिन्न रोगों के शिकार हो जाते हैं और परिणामस्वरूप उस स्थान की जैव विविधता समाप्त हो जाती है।

(2) **अतिदोहन (Over Exploitation)-** प्रकृति में पाये जाने वाले पेड़-पौधों एवं जन्तुओं का आर्थिक रूप से वृहद स्तर पर उपयोग होने के कारण उनकी संख्या लगातार कम होती जा रही है, जिसके परिणामस्वरूप वे विलुप्त होते जा रहे हैं और अतिदोहन का शिकार होते जा रहे हैं।

(3) **अजायबघरों व अनुसंधान हेतु संग्रहण (Collection for Zoo and Researches)-** आजकल सम्पूर्ण विश्व में जंगली पादप एवं जन्तु प्रजातियों के अध्ययन अनुसंधान कार्य एवं औषधियाँ प्राप्त करने के लिये जैविक प्रयोगशालाओं में संग्रहीत किया जा रहा है तथा मनोरंजन हेतु उन्हें विभिन्न अजायबघरों में भी कैद किया जा रहा है, जिसके कारण इनकी संख्या में लगातार कमी आती जा रही है।

(4) **कीटनाशकों का उपयोग (Use of Pesticides)-** कीटनाशी एवं खरपतवारनाशी रसायनों के उपयोग से भी विभिन्न पेड़-पौधे एवं जीव जन्तु प्रभावित होते हैं। इसके लगातार उपयोग से बहुत-सी पादप एवं जन्तु प्रजातियाँ समाप्त होती जा रही हैं। अतः इसके कारण जैव-विविधता में लगातार कमी आती जा रही है।

(5) **शिकार (Hunting)-** मनुष्य प्रारम्भ से ही अपने भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लगातार जन्तुओं का शिकार करता आ रहा है, जिसके कारण मनुष्य को खाल, कर, सींग, औषधियाँ आदि प्राप्त होती हैं, जिनका उपयोग विभिन्न प्रकार के इत्र, सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री एवं शोभाकारी सामग्री बनाने के लिये किया जाता है। अतः इनका उपयोग विभिन्न उद्योग-धन्धों में भी किया जाता है, जिसके कारण जैव-विविधता में लगातार कमी आती जा रही है।

(6) **प्रदूषण (Pollution)-** आज विश्व में पर्यावरण प्रदूषण एक गम्भीर समस्या बन गयी है। इसके कारण आज वायु, जल, मृदा, तालाब, समुद्र आदि प्रदूषित हो गये हैं, जिसके कारण जीवधारियों को साँस लेने के लिये शुद्ध वायु, पीने के लिये शुद्ध जल तथा पौधों की वृद्धि के लिये शुद्ध मृदा प्राप्त नहीं हो पाती, जिसके कारण वे विभिन्न प्रकार की बीमारियों के शिकार होते जा रहे हैं, जिससे लगातार इनकी मृत्यु होती जा रही है और फलस्वरूप जैव-विविधता में कमी होती जा रही है।

प्रश्न-8. जैविक-विविधता की धारणा व कार्यक्षेत्र को समझाइये।

उत्तर- एक समय में पृथ्वी पर कृषि-व्यवस्था एवं उस पर उत्पादित होने वाले भोज्य-पदार्थों की भरपूर मात्रा थी। लेकिन आज की स्थिति में यह सब बदल चुका है। अब सिर्फ खाद्य-पदार्थ पर्याप्त श्रेणी में आ चुके हैं व इनकी संतोषप्रद स्थिति है। लेकिन इसके लिये भी प्राकृतिक विविधता का उपयोग करना होगा, जिसे आज हम जैविक-विविधता के नाम से जानते हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'हरित–क्रान्ति' की कल्पना की गई थी जिसे 1968 में संयुक्त–राज्य के कृषि विभाग के निदेशक विलियम गेंड ने यह नाम दिया था। उन्होंने पाया कि अन्न की विशेष जाति से ही भारत तथा पाकिस्तान में गेहूँ तथा फिलीपाइन्स में चावल का उत्पादन हुआ है। बाद में भारत में पाँच प्रमुख खाद्यान्न गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजारा, मक्का पर शोध कर ज्यादा उत्पादन वाली किस्में तैयार कीं। लेकिन धीरे–धीरे यह जाना जाने लगा कि यह विविधता सभी पदार्थों तथा जन्तुओं में है, एवं प्रगति के लिये इसका उपयोग सम्भव है। जैविक–विविधता का अध्ययन निम्न तीन स्तरों पर किया जाता है–

1. **प्रथम पारिस्थितिक–तन्त्र के स्तर पर–** जैसे–

(अ) पहाड़ी पारिस्थितिकी–तन्त्र (ब) रेगिस्तानी पारिस्थतिकी–तन्त्र

(स) रेगिस्तानी पारिस्थितिकी–तन्त्र (द) तटीय पारिस्थतिकी तन्त्र।

2. **द्वितीय प्रजातियों के स्तर पर–** विशेषज्ञों ने विश्व में विभिन्न स्तर पर प्रजातियों का अंकन 15 लाख से 800 लाख तक किया है। सभी ने इन प्रजातियों की संख्या के निर्धारण में अपने–अपने मत दिये हैं, लेकिन निश्चय ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ये काफी ज्यादा संख्या में हैं।

3. **तृतीय प्रजातियों के अन्तर्निहित स्तर पर–** हर प्रजाति के अन्दर ही असंख्य तरह की विविधता तथा विभिन्नता सम्भव है। उदाहरण के लिये फिलीपाइन्स के चावल शोध संस्थान में 90,000 चावल के दानों का संरक्षण किया गया है, जो अलग–अलग तरह का उत्पादन देते हैं।

जैविक–विविधता व उसका कार्य–क्षेत्र– जैविक–विविधता से तात्पर्य एक समूहवादी शब्द से है। जिसमें पृथ्वी के सभी तरह के सजीव प्राणी, पौधे–प्राणी, पशु, सूक्ष्म जीव–जन्तु समाहित हैं। वस्तुतः इसमें प्रजातियों के अन्दर, प्रजातियों के बीच एवं परितन्त्र की विविधतायें शामिल हैं।

अतः जब भी जैविक विविधता की बात की जाती है, तब हम पूरे पृथ्वी के परितन्त्रों (स्थलीय, जलीय तथा वायुमण्डलीय) के अन्दर के समस्त सजीव एवं निर्जीव वस्तुओं के पारस्परिक व्यवहार को देखते हैं। इस विविधता के कारण ही हमें जीने के लिये भोजन–पानी–वायु–कपड़ा–मकान आदि उपलब्ध हुये हैं एवं कई तरह की सांस्कृतिक विविधतायें भी पैदा हुयी हैं। अतः जैविक–विविधता के विशिष्ट योगदान निम्न प्रकार हैं–

1. भोज़न, पानी, औषधियाँ एवं उद्योगों हेतु कच्चा सामान।
2. मिट्टी की पुनः संरचना एवं उसके उपजाऊपन का नियंत्रण व रख–रखाव।
3. स्वच्छ पानी की उपलब्धता।
4. अधिक तापमान का नियंत्रण।
5. वायुमण्डलीय रख–रखाव आदि।

इनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैविक–विविधता हमारे जीवन के हर क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है।

जैविक–विविधता की विश्व–स्तर पर महत्ता को स्वीकारते हुये संयुक्त राष्ट्र ने 1992 में एक विशेष सत्र का आयोजन रीओ–डी–जैनीरो में किया था। उसमें इस सम्बन्धित सभी विषय–वस्तु का विश्लेषण कर एक प्रतिवेदन (रिर्पोट) के रूप में इसे प्रसारित किया गया। इस प्रतिवेदन में मुख्यतः जैविक–विविधता क्यों? जैविक–विविधता की योजना तथा क्रियाविधि, जैविक–विविधता की उपयोगिता, इसका क्रियान्वयन में सहयोग एवं भागीदारी आदि मुख्य

बिन्दुओं को उजागर किया तथा यह अपेक्षा की गई कि प्रत्येक देश अपने–अपने स्तर पर इसकी योजना तैयार कर उसे अपने ढंग से प्रस्तुत करे।

प्रश्न–9. 'एक वृहत जैव–विविधता राष्ट्र के रूप में भारत' इस पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– एक वृहत जैव विविधता राष्ट्र के रूप में भारत– भारत का सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग 329 मिलियन हेक्टेयर है, जो कि विभिन्न प्रकार के पेड़–पौधों एवं जन्तुओं की जैव–विविधता से भरपूर है। इस प्रत्येक भाग में एक विशिष्ट प्रकार की जैव विविधता उपस्थित है। इस प्रकार वृहत् जैव–विविधता के प्रमुख कारण प्रजातियों की अधिकता, जलवायु, भौगोलिक परिस्थितियां आदि हैं, जिसके कारण जीव–जन्तुओं के पारिस्थितिक आवासों में विविधता आती है। हमारे देश की जलवायु में भी बहुत अधिक विभिन्नता है। यह विभिन्नता आर्द्र ऊष्ण कटिबन्धीय पश्चिमी घाट से राजस्थान के मरूस्थल, लद्दाख के ठण्डे मरूस्थल एवं हिमालय के बर्फीले पर्वतों से पेनिनसुलर भारत के गर्म समुद्री किनारों तक देखने को मिलते हैं।

हमारे देश में पौधों एवं जन्तुओं की लगभग 1,15,000 प्रजातियों की पहचान हो चुकी है। इसके अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी प्रजातियाँ अभी उपस्थित हैं, जिन्हें पहचाना नहीं जा सका है। भारतवर्ष जैव–विविधता का एक महत्वपूर्ण केन्द्र है क्योंकि यह लगभग 168 महत्वपूर्ण कृषि पादप प्रजातियों एवं कुछ पालतू पशुओं की उत्पत्ति का केन्द्र है। हमारा देश विश्व के उन 12 देशों में से है जिनकी जैव–विविधता बहुत अधिक है।

भारतवर्ष में वनस्पतियों की विविधता– हमारे देश में लगभग 45,000 पादप प्रजातियाँ उपस्थित हैं, जो कि सम्पूर्ण विश्व के कुल ज्ञात पौधों का 15% भाग है। यहाँ (भारत में) समूहवार इन पौधों की संख्या निम्न प्रकार हैं–

1. पुष्पीय पौधे– 15,000 प्रजातियाँ (33%)
2. टेरिडोफाइट्स– 600 प्रजातियाँ (1%)
3. ब्रायोफाइट्स– 2,700 प्रजातियाँ (6%)
4. लाइकेन्स– 600 प्रजातियाँ (4%)
5. शैवाल– 5,000 प्रजातियाँ (11%)
6. कवक – 20,000 प्रजातियाँ (45%)

पुष्पीय पौधों की 15,000 प्रजातियों में से 35% प्रजातियां विशेष क्षेत्रीय होती हैं,जो कि 26 विशेष क्षेत्रों में ही सीमित होती हैं। एक बीजपत्री पौधों की 588 प्रजातियाँ हमारे देश में पायी गई हैं, जिनमें से 22 प्रजातियाँ विशेष क्षेत्रीय हैं हमारे देश के उत्तर–पूर्वी क्षेत्र में ऑर्किड्स भरपूर मात्रा में पाया जाता है। विश्व की 17,000 प्रजातियों में से इस अकेले क्षेत्र में ही लगभग 675 ऑर्किड प्रजातियाँ उपस्थित हैं।

भारत में जन्तु विविधता– हमारे देश में 75,000 जन्तु प्रजातियाँ उपस्थित हैं। इनमें 80% प्रजातियाँ सिर्फ कीटों की हैं।

भारतवर्ष में उपस्थित जन्तुओं की समूहवार कुल संख्या निम्न प्रकार है–

1.	स्तनी	–	340 प्रजातियाँ
2.	पक्षी	–	1,200 प्रजातियाँ
3.	सरीसृप	–	425 प्रजातियाँ
4.	उभयचर	–	140 प्रजातियाँ
5.	मछलियाँ	–	1,000 प्रजातियाँ
6.	कीट	–	6,700 प्रजातियाँ

7. मौलस्का — 4,000 प्रजातियाँ
8. अन्य कशेरूक प्राणी — 6,500 प्रजातियाँ

स्थलीय प्राणियों के साथ-साथ हमारे देश का समुद्री भाग भी जैव-विविधता से भरपूर है, परन्तु इसका विस्तृत रूप से अध्ययन नहीं कर सकते हैं। वनस्पतिजात एवं प्राणिजात के अतिरिक्त हमारे देश में सैकड़ों ऐसी प्रजातियाँ भी हैं जिनकी खोज आज तक नहीं हो सकी है।

प्रश्न–10. जैव विविधता के महत्व पर प्रकाश डालिये। [सागर 2005 उज्जैन 15,18]

अथवा

जैव विविधता की उपयोगिता बताइये।

उत्तर–

जैव–विविधता का महत्व

1. प्रारम्भ में पर्यावरण वैज्ञानिकों का विचार था कि प्रजाति विविधता या जैव-विविधता पर्यावरण-तन्त्र के स्थायित्व सम्बन्धित होती है। दूसरे शब्दों में जीव-मण्डल का स्थायित्व जैव-विविधता पर निर्भर होता है, परन्तु आज यह स्पष्ट हो चुका है कि पर्यावरण-तन्त्र का स्थायित्व उसके अजैविक स्थायित्व पर निर्भर होता है। इस प्रकार जैव-विविधता पर्यावरण-तन्त्र या जैवमण्डल को स्थायित्व प्रदान करती है। जब अजैविक घटकों जैसे- जलवायु, पानी, वायु, मृदा तथा वायु की रासायनिकता में किसी प्रकार का उतार-चढ़ाव होता है, तब उस स्थान की जैव-विविधता प्रभावित होती है और पर्यावरण-तन्त्र के स्थायित्व पर प्रभाव पड़ता है।
2. जैव-विविधता मनुष्य के लिये विभिन्न प्रकार से उपयोगी ऐसे जीव-जन्तु एवं पेड़-पौधों का प्रमुख स्रोत होती है जिन पर मानव-जाति भोजन, ईंधन, रेखा, औषधि एवं आवास आदि के लिये निर्भर है।
3. नम ऊष्ण-कटिबन्धीय क्षेत्रों में पायी जाने वाली उच्च जैव-विविधता पोषक-पदार्थों के चक्रण एवं पुनर्चक्रण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

प्रश्न–10. जैव विविधता के प्रकारों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। [जीवाजी 2012,18]

अथवा

जैव–विविधता की क्षति के कारणों का उल्लेख कीजिये। [रींवा 2015]

अथवा

जैव विविधता की क्षति के कारण क्या हैं? वर्णन कीजिये।

उत्तर– जैव विविधता के प्रकार–

(1) **आनुवंशिकता विविधता–** इसमें जातियों के स्वयं के अन्दर की विविधता आती है। जातियों के अन्दर आनुवंशिक विभिन्नता होती है जिससे जातियों के अन्दर विभेद पाये जाते हैं।

(2) **जातीय विविधता–** इसमें विभिन्न जातियों के बीच विविधता आती है। इस प्रकार की विविधता को एक विशेष क्षेत्र में पायी जाने वाली जातियों की संख्या के आधार पर मापा जाता है।

(3) **पारिस्थितिकी तन्त्र की विविधता--** एक पारिस्थितिकी तन्त्र में विभिन्न थल रूप पाये जाते हैं। उसमें से प्रत्येक विभिन्न एवं विशिष्ट प्रकार की वनस्पतियों एवं जन्तुओं को आश्रय देते हैं। आनुवंशिकी एवं जातीय विविधता की अपेक्षा पारिस्थितिक विविधता को मापना कठिन होता है। जब समुदाय का उनके विभिन्न पारिस्थितिक निके में अध्ययन किया जाता है तब पारिस्थितिक तन्त्र की विविधता को भलीभाँति समझा जा सकता है।

जैव विविधता की क्षति के कारण–

(1) शिकार– अनन्तकाल से मनुष्य ने भोजन के लिये शिकार किया है। व्यापार की दृष्टि से जंगली जानवरों का शिकार उनसे प्राप्त होने वाले पदार्थों जैसे कि चर्म/खाल हाथीदाँत, फर, गोश्त, इत्र, कॉस्मेटिक्स एवं सजावट की दृष्टि के कारण किया जाता है। उदाहरण– अफ्रीका में शिकारियों ने काले गैंडो की जनसंख्या का 95 प्रतिशत शिकार, सींगों को प्राप्त करने के लिये किया था। अन्तिम सात वर्षों में अफ्रीका के हाथियों की जनसंख्या के लगभग 1/3 भाग का शिकार 3000 टन हाथी दाँत को प्राप्त करने के लिये किया गया। शेर व चीतों का शिकार उनकी खालों के लिये, कस्तूरी के लिये कस्तूरी मृग का शिकार तथा कश्मीर में फर के लिये सियार का शिकार होता रहा है। शिकार को खेल के रूप में भी उपयोग किया जाता रहा है।

(2) **हैबीटैट का विनाश–** मनुष्य ने अपने आवास की स्थापना, चारागाह, कृषि, बाँधों के निर्माण, खदानों, उद्योगों आदि के द्वारा वन्यजीवों का विनाश कर दिया है। हमारे देश में दुर्लभ तितलियों की जातियाँ पश्चिमी घाट के आवासीय विनाश के कारण विलुप्तता की ओर है। तितलियों की जो 370 जातियाँ पश्चिमी घाट पर पाई जाती हैं उसमें से 70 विलुप्त होने पर हैं या हो गयी हैं।

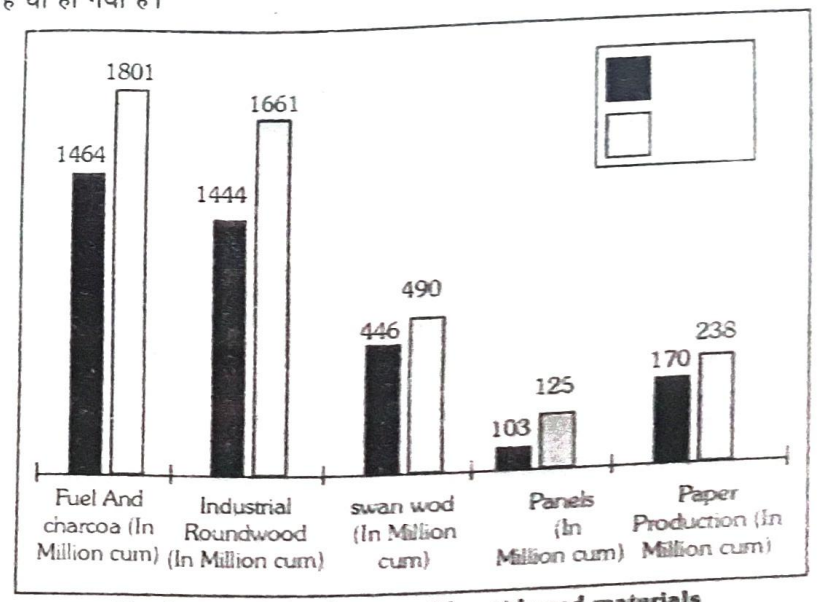
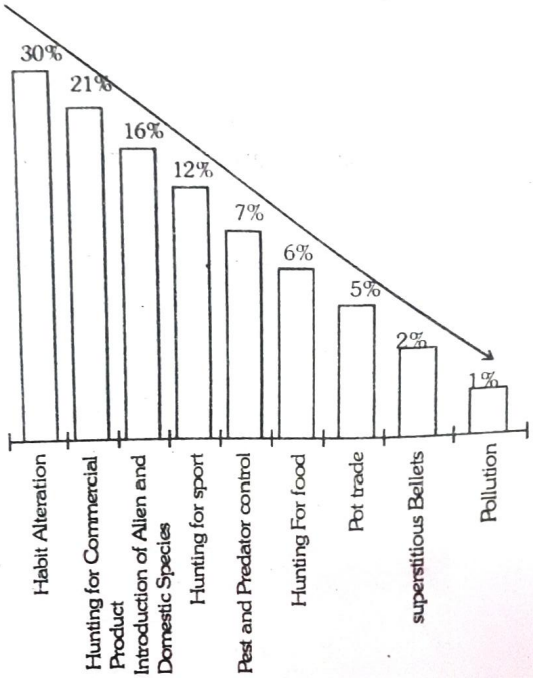


Fig. Increasing production of forest based materials

(3) **अत्यधिक दोहन–** जैवविविधता के विनाश का प्रमुख कारण यह है कि व्यापारिक दृष्टि से इसका दोहन करने पर इसकी क्षति में तीव्र गति से वृद्धि होती है। अत्यधिक रूप से समुद्री प्राणियों- मछलियों, मोलस्क, समुद्री गाय, समुद्री कछुओं को पकड़ कर उपयोग करने के कारण यह विलुप्त होने के कगार पर आ गये हैं। बब्बर शेर व चीतों का अधिक शिकार करने से इनके लुप्त होने की अवस्था है। प्रयोगशाला कार्य या अध्ययन के लिये कीटभक्षी एवं परभक्षी जातियों का अत्यधिक उपयोग भी क्षति का प्रमुख कारण है।

(4) **प्रदूषण–** प्रदूषण ने प्राकृतिक आवासों को नष्ट कर दिया है। प्रदूषण के कारण पृथ्वी के समस्त वातावरण पर प्रभाव पड़ता है। जल, थल व वायु तीनों ही मानव गतिविधियों के कारण प्रदूषित होते हैं। जलीय प्रदूषण मुख्य रूप से ऐस्चयूरी, तटीय एवं स्वच्छ जल के जैविक

समुदाय के लिये घातक होता है। विषाक्त व्यर्थ जलीय काय जीवों के शरीर में प्रवेश कर खाद्य श्रृंखला एवं जलीय पारिस्थितिक तन्त्र को हानि पहुँचाते हैं। कीटनाशक, पेस्टनाशक, गन्धक, नाइट्रोजन ऑक्साइड आदि पौधों एवं प्राणियों की जातियों पर बुरा प्रभाव डालते हैं। तटीय प्रदूषण का प्रभाव भी अधिक महत्वपूर्ण है। प्रदूषण के कारण प्रवाल भित्ति संकट में है। शहरों में बढ़ते शोर के कारण भी वन्य जीवन प्रभावित हो रहा है।



(5) **डिफोरेस्टेशन–** मनुष्य के जीवन में लकड़ी का महत्वपूर्ण स्थान है। घर, फर्नीचर, दुकान, गाड़ियाँ आदि जैसी लगभग हर जगह पर लकड़ी की जरूरत पड़ती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जंगलों का कटना बड़े पैमाने पर जारी है। कागज का निर्माण भी लकड़ी से ही होता है और कागज की मांग की पूर्ति के लिये जंगलों का विनाश हो रहा है। देश में लकड़ी आधारित उद्योगों का विवरण चित्र में दिया है। भारत में औसतन प्रतिवर्ष 1,55,000 हेक्टेयर वन्य क्षेत्र का विनाश हो रहा है। भारत में विभिन्न मानव कार्यों के कारण वनों की क्षति का विवरण निम्नलिखित है–

विभिन्न मानव कार्यों के लिये वन्य क्षेत्रों की क्षति

क्रिया/कार्य	क्षेत्र की क्षति (हैक्टेयर में)
नदी–घाटी प्रोजेक्ट्स	4,01,000
कृषि कार्य	24,33,000
सड़क एवं संचार	55,000
उद्योगों की स्थापना	1,25,000
अन्य कार्य	3,88,000
कुल क्षेत्र की क्षति	34,02,000

भारतवर्ष में प्रतिवर्ष 13,000 वर्ग किलोमीटर की दर से निर्वनीकरण हो रहा है। निर्वनीकरण की यही दर निरन्तर चलती रही, तब हमारे वनों का भविष्य क्या होगा यह सब भारतवासी समझते हैं। ऐसा अनुमान है कि आने वाले वर्षों में निर्वनीकरण के फलस्वरूप संसार की विविधता की क्षति बहुत अधिक (100 जातियों की क्षति प्रतिवर्ष) होगी।

(6) **सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कारण–** जैव–विविधता की एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक हानि भिन्न होती है। वर्तमान समय में यह औद्योगिक फोरेस्ट्री, कृषि एवं ऊर्जा कार्यक्रमों से सम्बन्धित होती है। विकासशील देशों जैसे भारतवर्ष में विकासशील नीतियाँ, प्रोजेक्ट्स, स्थानीय समुदाय एवं जैव–विविधता संवर्धन के लिये बहुत आवश्यक होते हैं।

प्रश्न–12. संकटापन्न अथवा लुप्त प्राय जातियां क्या हैं? इनके संरक्षण की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिये। [जबलपुर 2001,11,14,18]

अथवा

पादप जातियों के विलुप्तता (Obsolescent) या संकटग्रस्त होने के क्या कारण हैं? इनके संरक्षण की विभिन्न विधियों एवं योजनाओं का वर्णन कीजिये। [भोपाल 2001,12,15]

उत्तर– प्रसिद्ध वैज्ञानिक वाल्टर सी रासन ने सन् 1986 में जैव विविधताओं को इस प्रकार से परिभाषित किया है– 'पादपों, प्राणियों सूक्ष्मजीवों में पाई जाने वाली विभिन्न किस्में तथा प्रजातिओं में पाई जाने वाली विभिन्नताओं को जैव विभिन्नतायें कहते हैं।' दूसरे शब्दों में– 'पादपों, प्राणियों एवं सूक्ष्मजीवों की जातियों में प्रचुरता के कारण एक निश्चित आवास में अन्योन्य क्रिया तन्त्र में विभिन्नता विकसित होती है। इस प्रक्रम को जैव विविधता कहते हैं।'

आधुनिक युग में औद्योगिक सभ्यता का अभूतपूर्व विकास हुआ है। इस कारण असंख्य जीवधारियों के अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो गया है। जैव वैज्ञानिकों का विचार है कि इस प्रकार के संकट के कारण जीवधारियों की जातियाँ विलुप्त हो सकती हैं। निम्नलिखित कारक जीवों की जातियों के विलुप्तीकरण के प्रति उत्तरदायी हैं–

(1) जैव आवासों का नष्ट होना।
(2) जीवों की विदेशी जातियों का अनियंत्रित तरीके से प्रविष्ट होना।
(3) पादप एवं जन्तु संसाधनों का अधिक उपयोग एवं दुरूपयोग होना।
(4) पर्यावरणीय, जल, वायु, मृदा में अत्यधिक प्रदूषण होना।
(5) उच्च पादप जातियों का ऊष्ण कटिबंधीय वनों से कमी होना।

वातावरण में परिवर्तन के कारण रोगकारक एवं पौधे (Host) में अन्तर आ जाता है। ये अन्तर या परिवर्तन म्यूटेशन के द्वारा हो सकते हैं। ये जीव ऐसे जीवों को भी संक्रमित करने लगते हैं जो पूर्व में संक्रमित नहीं करते थे। अध्ययन के द्वारा यह पता चलता है कि धान में ब्राउन प्लान्ट हॉपर (**Brown plant hopper**) के द्वारा संक्रमण होने लगा है लेकिन केरल में एक नयी प्रजाति का पता लगा है जो ब्राउन प्लान्ट हॉपर के संक्रमण के प्रति प्रतिरोधी है।

इस प्रकार यह देखा गया है कि वे जातियाँ जो पूर्व में अनुपयोगी रही हैं वे कल उपयोगी हो सकती हैं तथा इसका उल्टा भी हो सकता है।

आजकल संसार के सभी भागों में पादप एवं जन्तुओं की विभिन्न जातियों के संरक्षण के लिये चेतना जनमानव के मस्तिष्क में जन्मी है। इसके सुखद परिणाम भविष्य में मिलने की आशा है। एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था (International Union for Conservation of Nature and natural resources IUCN) के द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार संसार में लगभग 10%

पादप प्रजातियाँ लुप्त होने के कगार पर हैं। यदि, समय रहते हुये उनका संरक्षण नहीं किया गया तो वे शीघ्र ही लुप्त हो जावेंगी। इस विषय से संबंधित विस्तृत जानकारी देने के उद्देश्य से IUCN ने रेड डेटा बुक्स (Red data books) का प्रकाशन किया है जिसमें लुप्त होने वाली जन्तुओं और पादप प्रजातियों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। बोटनीकल सर्वे ऑफ इण्डिया ने लुप्त होने वाली पादप प्रजातियों के बारे में जानकारी Threatned plants of India. A state of the Art नामक पुस्तक में दी है। इसके अलावा, एक अन्य पुस्तक The Indian plant red data book I जिसका प्रकाशन भी बोटनीकल सर्वे ऑफ इण्डिया ने किया है, लुप्त होने वाली पादप प्रजातियों के बारे में सार्थक जानकारी उपलब्ध करायी है। इसके लुप्त होने वाली लगभग 125 पादप प्रजातियों का वर्णन किया गया है। इसमें वर्णित समूहों का उल्लेख किया है जो निम्नानुसार हैं-

(1) **लुप्त या एक्सटिंक्ट (Extinct)**- इस समूह में वे पादप प्रजातियाँ शामिल की गयी हैं जो पहले प्रचुरता में मिलती थीं जो अब प्राकृतिक वास में अब नहीं मिलती है। यदि, कोई प्रजाति लगातार खोजने के बाद भी वह अपने पूर्व वास-स्थान पर नहीं पायी जाती तो उसे लुप्त या एक्सटिंक्ट मान लिया जाता है और इसका संरक्षण नहीं किया जाता है।

(2) **संकटापन्न (Endangered)**- वे पादप प्रजातियाँ जो लुप्त होने की स्थिति में पहुँचने वाली हों, यदि यही परिस्थिति बनी रहे तो उन्हें नष्ट होने से रोका नहीं जा सके। कालान्तर में, इन प्रजातियों की संख्या इतनी कम हो जाती है उनके प्रजनन की सम्भावना क्षीण हो जाती हैं और कुछ समय वे नष्ट होकर धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं।

(3) **वेलनेरेवल (Vulnerable)**- इस पादप समूह में पादप जातियाँ शामिल की जाती हैं शीघ्र ही संकटापन्न समूह में वर्गीकृत की जा सकें। यदि पारिस्थिकीय कारक काफी समय तक समान रहें तो ये पादप समूह धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं।

(4) **दुर्लभ (Rare)**- इस समूह में वे पादप जातियाँ शामिल की जाती हैं जो संसार में कम स्थानों पर एवं कम संख्या में पायी जाती हैं। शुरू में ये जातियाँ संकटापन्न नहीं होती लेकिन, यदि पारिस्थिकीय कारक यथावत रहते हों तो ये जातियाँ कालान्तर में नष्ट होने लगती हैं।

(5) **अपर्याप्त ज्ञात (Insufficiently known)**- इस समूह में वे पादप जातियाँ शामिल हैं जिनके बारे में यह निश्चित नहीं होता है उनको किस समूह में वर्गीकृत किया जाये। ये जातियाँ भी धीरे-धीरे लुप्त होने लगती हैं।

(6) **खतरे से बाहर (Out of danger)**- उपरोक्त वर्णित जातियाँ जो शीर्षक (1-5) में शामिल हों लेकिन, संरक्षण के उपरान्त अपने पूर्व वास स्थान में स्थापित हो चुकी हों उन्हें खतरे से बाहर माना जाता है।

पादप जाति के लुप्त होने के कारण

(1) **पर्यावरण कारकों द्वारा**- यदि पौधों के वास-स्थान का वातावरण (पर्यावरण) में इतना बदलाव या परिवर्तन आ गया हो जो पौधों की सहन सीमा के बाहर हो तो इस प्रकार की परिस्थिति में पौधे लुप्त होने लगते हैं।

(2) **पारिस्थितिक स्थानापन्न**- यदि किसी पारिस्थितिक तंत्र में प्रविष्ठ होने वाली कोई नयी प्रजाति अपने आप को पूरी तरह से समायोजित कर ले और तेजी से पनपने लगे जिससे कि वहाँ पर पूर्व में उगने वाली प्रजातियों के अस्तित्व पर संकट आने

लगे और यही स्थिति लगातार बनी रहती हो पुरानी पादप प्रजातियाँ नष्ट होने लगती हैं।

(3) **जीवीय कारक**- पौधों का क्रमिक विकास उनके वास-स्थान अप्रत्यक्ष रूप से परागकीट, कीट पतंगों के पारस्परिक संबंधों से जुड़ा रहता है। यदि परागण की क्रिया को कराने वाले कीट वहाँ से लुप्त हो जायें या अन्यत्र चले जावें तो कुछ समय बाद वह कीट परागित प्रजाति नष्ट होने लगती है।

(4) **पेथोलॉजीकल कारण**- यदि किसी स्थान पर कोई भयंकर एवं उग्र बीमारी फैल जाती है जिससे पादप नष्ट होने लगते हैं तो कुछ समय बाद प्रजाति धीरे-धीरे नष्ट होने लगती है।

(5) **वास-स्थान का नष्ट होना**- मनुष्य अपने स्वार्थवश प्रकृति मे फेर-बदल करता रहता है। पौधों को जलाने, सड़क, बाँध, उद्योगों के स्थापित करने व उनके अपशिष्ट पदार्थों के कारण उस स्थान की पादप प्रजातियाँ नष्ट होने लगती हैं और कालान्तर में लुप्त हो जाती हैं।

पादप प्रजातियों का संरक्षण- पादप प्रजातियों को नष्ट होने से बचाने के लिये उनका संरक्षण करना अति आवश्यक है। हेनीफिन एवं उनके सहकर्मियों ने सन् 1981 में लुप्त प्रायः पादप प्रजातियों की पहचान के बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें निम्न तथ्य उल्लेखनीय हैं-

(अ) जातीय जानकारी (Species information)- पादप प्रजातियों के बारे में निम्नलिखित जानकारी लेना आवश्यक है-

(1) वर्गीकरण एवं नामकरण
(2) संवैधानिक स्वरूप
(3) वर्णन एवं उपयोगिता
(4) भौगोलिक बिखराव
(5) पर्यावरणीय वास-स्थान
(6) समष्टि गतिकी (Population dynemics)
(7) प्रत्यक्ष भूमि व्यवस्था एवं जिम्मेदारियाँ
(8) जीवित न रहने के प्रमाण

(ब) मूल्यांकन एवं अनुशंसा- लुप्त प्रजाति के बारे में निम्न जानकारी का संकलन करना- (1) शक्ति, ओज (vigour), ट्रेण्ड (trend) और स्टेटस (status) का सामान्य मूल्यांकन (2) स्टेटस में परिवर्तन (3) क्रिटिकल वास्तविक स्थान की अनुशंसा करना (4) संरक्षण/पुर्नस्थापन की अनुशंसा करना (5) इच्छुक सहयोगी

(स) जानकारी के विभिन्न स्त्रोत- (1) विलुप्त होने वाली प्रजातियों के बारे में जानकारी के विभिन्न स्त्रोत का आकलन। (2) प्राप्त जानकारियों का संकलन।

(द) प्रजातियों का लेखन

(1) प्रजातियों के विवरण का लेखन करना
(2) प्रजातियों के रिपोर्ट के रख-रखाव के बारे में जानकारी का संकलन करना
(3) रिकार्ड का संशोधन करना।

(इ) अन्य नई जानकारी-

भारत के कुछ लुप्त प्रायः पौधों के नाम-

(1) टेक्टोना ग्राण्डिस *(Tectona grandis)* : टीक
(2) फाइकस बेंगेलन्सिस *(Ficus bengalensis)*
(3) शोरिया रोबस्टा *(Shorea robusta)*
(4) रावल्फिया सर्पेन्टेइना *(Rauwolffia serpentina)* : सर्पगन्धा

(5) सिनकोना लेजीरियाना *(Cinchona ledgeriana)* : कुनेन
(6) काल्चीकम आटमनेल *(Colchicum autamnale)*, कुचला
(7) सेन्टेलम अल्बम *(Santalum album)* : चंदन
(8) केनाबिस सटाइवस *(Cannabis sativus)* : भाँग
(9) अर्टिका डायोसिया *(Urtica dioecia)* बिच्छू बूटी
(10) साइलियम प्लेन्टेगो ओवेटा *(Psyllium plantago ovata)*
(11) यूफोर्बिया रॉयलियाना *(Euphorbia roydiana)*
(12) थायमस सरफिल्लम *(Thymus serphyllum)*
(13) सेपिनडस सेपोनेरिया *(Sapindum saponaria)*
(14) टेरोस्पर्मम एसीरिफोलियम *(Pterospermum accrifolium)*
(15) फ्लेक्सीनस फ्लोरीबण्डा *(Flaxinus floribunda)*

कुछ लुप्त प्रायः पौधों का वर्णन

(1) यूलोफिया मेकीनीनोई–डथी ***(Eulophia mackinnonii-Duthie)***– यह उत्तरप्रदेश व मध्यप्रदेश के जंगल में पाया जाने वाला एक जंगली पौधा है जो प्रायः घने व छायादार स्थान में पाया जाता है। इसके पुष्प लाल कथ्थई रंग के होते हैं फूल जुलाई माह में खिलते हैं।

पौधा 80–100 सेमी. लम्बा होता है। तना राइजोम के रूप में होता है। पत्तियाँ दो बड़ी लम्बी होती हैं जिनके आकार भालाकार (lanceolate) होता है तथा तट पूर्ण (entire) होता है। पत्तियों की लम्बाई काफी अधिक होती है जो सामान्यतः 70–80 सेमी. के बीच होती है। पुष्प स्केप पर लगे होते हैं। बाह्यदल पीले रंग के होते हैं। दल छोटे होते हैं जो त्रिओष्ठीय (trilipped) होते हैं। इनमें छोटा स्पर (spur) भी होता है।

(2) लिगस्टीकम एल्बो–एलेटम ***(Ligusticum albo-alatum)***– यह पौधा भी वर्तमान में लुप्त प्रायः हो चुका है। यह पौधा हमारे देश में छोटा नागपुर की पहाड़ियाँ, नेहरघाट, राँची, सरगुजा, रायगढ़ जिले में पाया जाता था। इस पौधे को आखरी बार सन् 1940 में देखा था। पौधे के लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं– पौधे की लम्बाई 1–15 मीटर, निचली पत्तियों के वृन्त काफी लम्बे, भालाकार या अण्डाकार होते थे। पुष्प अम्बेल पुष्पक्रम में भी पाये जाते थे।

(3) ऐल्बोफिलम जेपोरेन्स ***(Albophyllum Jeyporense (Bedd.) Bremekamp)***– यह पौधा प्राकृतिक विनाश के कारण लुप्त हो गया है जो म.प्र. में बस्तर, उड़ीसा के कालाहाडी, कोरापुट, विशाखापट्टनम, गोदावरी जिले में पाया जाता था। पौधा झाड़ी के रूप में मिलता था जिसके लक्षण निम्नवत थे– पौधे की लम्बाई तीन मीटर, पत्तियाँ विपरीत (opposite) होती थीं जो 12.6 × 6.8 सेमी. आकार की होती है। ये संवृन्तीय होती थी, वृन्त की लम्बाई 6 सेमी. / पुष्पक्रम एकस्थ कक्षस्थ (Axillary solitary) पुष्प सफेद, नीले किनारे युक्त ब्रेक्ट 1.4 × 0.3 cm.0.8 लम्बे, रोमयुक्त दल 17 cm लम्बे, करोला ट्यूब 0.5 cm, पुंकेसर दो आंलग्न (Adnate), तन्तु 0.9 cm, लम्बे, अण्डाशय, लीनियर व ऑबलांग (Oblong) होती थी।

(4) हिराक्लियम जेक्युमोन्टाई– क्लार्क ***(Heracleum facquemontii- clarke)***– यह पौधा उत्तरी पश्चिमी हिमालय में पाया जाता था। यह पौधा शाकीय पौधा था जिसकी लम्बाई 30–70 सेमी. थी, पत्तियाँ अण्डाकार, वृन्त रहित, सिरेट तट था पालिवत (lobed) होती थीं। इनमें ब्रेक्ट अस्पष्ट, पृष्ठ, सवृत्तीय, होते थे। इसमें सफेद रंग के पुष्प लगते थे।

लुप्त–प्राय जातियों का संरक्षण (Conservation of Endangered Species)– पौधों के लगातार उपयोग के कारण लुप्तप्राय जातियों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। अतः इनके संरक्षण हेतु हमारे देश में एक अलग मन्त्रालय का गठन किया गया है, जिसे पर्यावरण एवं वानिकी मंत्रालय (Ministry of Environment and Forestry) कहते हैं। यह मन्त्रालय एवं जीवन प्रबन्ध कार्यक्रमों को सुचारू रूप से चलाने के लिये राज्यों को सहायता प्रदान करता हैं। लुप्त–प्राय जातियों को बचाने के लिये निम्न कदम उठाने चाहिये–

1. मनुष्य को वन्य–जीवन के महत्व को अच्छी तरह समझाना चाहिये ताकि एक सामाजिक जागरूकता उत्पन्न हो।
2. प्राकृतिक आवासों एवं वन्य–जीवन की सुरक्षा हेतु उनका नियंत्रित एवं सीमित उपयोग किया जाये।
3. वन्य–जीवन की सुरक्षा एवं संरक्षण हेतु संवैधानिक पाबन्दियां लगाई जायें।
4. राष्ट्रीय उद्यानों, अभ्यारण्यों एवं बायोस्फियर रिजर्व का निर्माण किया जाये और उसे मानव दखलन्दाजी से दूर रखा जाये।
5. लुप्तप्राय जातियों के जर्मप्लाज्म को एकत्रित कर उनका परिरक्षण किया जाये।
6. समाज को शिक्षित किया जाये ताकि ये वन्य–जीवन के महत्वों को समझ सकें।

प्रश्न–13. जैव–विविधता के संवेदनशील क्षेत्रों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [जीवाजी 14]

अथवा

संवेदनशील क्षेत्रों से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिये।

अथवा

जैव विविधता के हॉट स्पॉट्स पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अथवा

हॉट स्पॉटस से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– जैव–विविधता के हॉट स्पॉट (Hot spots)– लम्बे काल से, संसार के उन ऊष्णकटिबंधीय, क्षेत्रों की खोज वरीयता से की जा रही है, जिनमें उच्च कोटि की स्थानीयता और अत्यधिक जैव–विविधता पायी जाती है और जहां स्पीसीज समाप्ति तथा आवासीय हानि (Habitat Loss) के तात्कालिक खतरे होते हैं। इन क्षेत्रों को संरक्षण के हॉट–स्पॉट कहा जाता है। वर्षा वनों के पौधों के इन्हीं आधार पर **मिर्स (Myers)** ने 1988 में विश्व में 12 हॉट–स्पॉटों की पहचान की। इन हॉट–स्पॉट में विश्व की कुल स्पीसीज (जातियों) की 12 प्रतिशत स्पीसीज पायी जाती हैं और ये क्षेत्र पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल का केवल 0.2 प्रतिशत क्षेत्रफल घेरते हैं। 1991 में **मिर्स** ने इनमें 8 अवनीय आवासों (Non forest habitats) को और जोड़ दिया। इनमें से 4 ऊष्णकटिबंधीय थे और शेष ऊष्णकटिबंधीय से बाहर भू–मध्य सागरीय प्रकार के जलवायु से संबंधित थे। एक अन्य महत्वपूर्ण काम वृहद् विविधता (Mega diversity) वाले 12 देशों की पहचान है जिनमें सम्मिलित रूप से विश्व की 60–70 प्रतिशत जैव–विविधता पायी जाती है। ये देश हैं– मैक्सिको, कोलम्बिया, ब्राजील, पेरू, ईक्वेडोर, जाइर, मेडागास्कर, इण्डोनेशिया, मलेशिया, भारत, चीन तथा आस्ट्रेलिया।

तात्कालिक संरक्षण की दृष्टि से विश्व के निम्न क्षेत्र महत्वपूर्ण हैं–

लैटिन अमेरिका में– इक्वेडोर के समुद्री किनारे के वन और ब्राजील के अटलांटिक समुद्री किनारे के वन।

अफ्रीका में– तन्जानिया तथा केनिया के पहाड़ी वन तथा मेडागास्कर के टापू। एशिया में– दक्षिणी श्रीलंका, पूर्वी हिमालय तथा पश्चिमी घाट (भारत), इन्डोचायना (बर्मा, थाईलैण्ड, कम्पूचिया, लाओस, वियतनाम, दक्षिण पूर्व चीन) फिलीपीन्स। ओसियाना मे- नया

कोलेडोनिया। इस तरह विश्व में पहचाने गये 18 प्रमुख हॉट स्पॉटों में से दो भारत में है पूर्वी हिमालयी भाग और पश्चिमी घाट। इन दोनों हॉट स्पॉटों में स्तनधारियों, सरीसृपों, उभयचरों, पक्षियों तथा उच्च पौधों की 5,332 स्थानिक जातियाँ (Endemic species) पायी जाती हैं।

विश्व के प्रमुख तप्त स्थल (हॉट–स्पॉट)– (1) हवाई द्वीप (2) केलिफोर्निया का पुर्वी पादप (3) प. इक्वेडोर (4) प. अमेजोनिया की उच्च भूमि (5) पश्चिमी घाट (6) श्रीलंका (7) प्रायद्वीपीय मलेशिया (8) उत्तरी बोर्नियो (9) फिलिपीन्स (10) द. प. आस्ट्रेलिया (11) क्वीन्सलैण्ड आस्ट्रेलिया (12) न्यू कैलेडोनिया (13) मध्य चिली (14) आइवरी कोस्ट (15) पूर्वी हिमालय।

प्रश्न–14. **Red Data Book** अथवा लाल आँकड़ा पुस्तक क्या है? इसका वर्णन कीजिये।

अथवा

Red Data Book अथवा लाल आँकड़ा पुस्तक का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर– **Red Data Book अथवा लाल आँकड़ा पुस्तक**– Red Data Book की प्रथम पुस्तक का प्रकाशन 1 जनवरी, 1972 को हुआ था। इस पुस्तक को प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय संघ या आई.यू.सी.एन. (IUCN) द्वारा प्रकाशित किया गया था। इसमें सभी प्रकार की संकटग्रस्त वन्य जीवों सम्बन्धी जानकारी दी गयी है। इस पुस्तक में विभिन्न वन्य प्राणियों की लुप्त हो रही प्रजातियों को संरक्षण के लिये मार्गदर्शन भी दिया गया है। अब तक Red Data Book के पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इनका वर्णन निम्नांकित हैं–

(1) प्रथम लाल आँकड़ा पुस्तक	236 प्रजातियाँ (292 उप–प्रजातियाँ)	स्तनधारी
(2) द्वितीय लाल आँकड़ा पुस्तक	287 प्रजातियाँ (341 उप प्रजातियाँ)	पक्षी
(3) तृतीय लाल आँकड़ा पुस्तक	36 प्रजातियाँ एवं उप–प्रजातियाँ	मरुस्थलीय उभयचर
	119 प्रजातियाँ एवं उप–प्रजातियाँ	सरीसृप रेंगने वाले
(4) चतुर्थ लाल आँकड़ा पुस्तक	दुर्लभ एवं अप्राप्य मछलियाँ प्रजातियाँ एवं उप–प्रजातियाँ	
(5) पंचम लाल आँकड़ा पुस्तक	दुर्लभ एवं अप्राप्य पौधे, वनस्पतियाँ प्रजातियाँ एवं उप–प्रजातियाँ	

इस पुस्तक में प्रजातियों का निम्नलिखित पाँच मुख्य भागों में वर्णन किया गया है–

(1) वे लुप्त हो रही प्रजातियाँ जिनके बचाव का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। उनकी जानकारी पुस्तक के लाल रंग के पृष्ठों पर मुद्रित है।

(2) वे दुर्लभ प्रजातियाँ जो संख्या में बहुत कम हैं और कुछ निश्चित स्थानों पर ही उपलब्ध हैं तथा इन प्रजातियों की समाप्त होने की आशंका है, उनकी जानकारी सफेद रंग के पृष्ठों पर मुद्रित है।

(3) वे लुप्त हो रही प्रजातियाँ जिनकी संख्या लगातार तेजी से कम होती जा रही है। उनकी जानकारी पीले रंग के पृष्ठों पर मुद्रित है।

(4) वे प्रजातियाँ जिनके बारे में पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है तथा जिनके बारे में आशंका है कि उनकी संख्या कम हो रही है। यह जानकारी पुस्तक के अन्त में भूरे रंग के पृष्ठों पर मुद्रित है।

(5) वे प्रजातियाँ जिन्हें बचा लिया गया है। उनकी जानकारी हरे रंग के पृष्ठों पर मुद्रित है।

प्रश्न–15. भारत में कितने प्रकार के वन पाये जाते हैं? अपने क्षेत्र में पाये जाने वाले वनों की विशेषता बताते हुये वनस्पतियों का उल्लेख कीजिये। [सागर 2005,09,14 भोपाल 2005,07,10,15,18 जीवाजी 2006]

अथवा

मध्यप्रदेश के वनों में पायी जाने वाली वनस्पतियों का उल्लेख उपयुक्त उदाहरण देकर कीजिये। [जीवाजी 2005,10,14,18]

अथवा

भारत में पाये जाने वाले विभिन्न वनों का संक्षेप में वर्णन करते हुये इसकी वनस्पतियों का वर्णन कीजिये। [सागर 2006]

अथवा

मध्यप्रदेश की वनस्पति पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। [जीवाजी 2005,07]

अथवा

टेम्परेट वन पर टिप्पणी लिखिये।

अथवा

अभ्यरण्य पर टिप्पणी लिखिये। [भोपाल 2006]

उत्तर– **मध्यप्रदेश की वनस्पति व वन**– किसी विशिष्ट क्षेत्र, स्थान, अथवा भू–भाग में पाये जाने वाले समस्त प्रकार के पौधों को उस स्थान की वनस्पति (vegetation) कहते हैं। भू–भौगोलिक रूप से भारत ऊष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र (tropical region) हैं, लेकिन यहां तीव्र मानसूनी वातावरण होता है। इस कारण यह अन्य ऊष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों से भिन्न हैं। शिम्पर, वार्मिंग, टेन्सले एवं चिप ने ऊष्णकटिबन्धीय वनस्पति को वर्षा, तापक्रम आर्द्रता के आधार पर वर्गीकृत किया है। लेकिन भारतीय वनों को तापक्रम के आधार पर चार समूहों में विभाजित किया गया है–

1. उष्ण कटिबन्धीय वन (Tropical forests)
2. मोन्टेन सब– उष्णकटिबन्धीय वन (Montane sub-tropical forests)
3. शीतोष्ण वन (Temperate forests)
4. अल्पाइन वन (Alpine forests)

मध्यप्रदेश में दो प्रकार के वन ऊष्ण कटिबन्धीय वन व मोन्टेन सब–उष्णकटिबन्धीय वन पाये जाते हैं। भारत में पाये जाने वाले वनों का वर्णन निम्न प्रकार हैं–

(1) ऊष्ण कटिबंधीय आर्द्र सदाबहार वन (Tropical wet evergreen forest)

इन क्षेत्रों का औसत तापमान 27°C होता है। इनमें औसत वर्षा वार्षिक 270 सेमी. या अधिक होती है। शुष्क मौसम की अवधि अपेक्षाकृत कम होती है। इनमें ग्रीष्म व शीत ऋतु के तापमान में अन्तर काफी कम होता है। ये वन पश्चिमी घाट 1500 फीट के किनारे पर एक पट्टी के रूप में, आसाम में 3500 फीट की ऊँचाई तक और अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में, बंगाल एवं अन्नामलाई पहाड़ियों और कर्नाटक के कुछ भागों में पाये जाते हैं। इस प्रकार के वनों को ऊष्ण कटिबंधीय वर्षा वन (Tropical rain forest) भी कहते हैं।

इन वनों में वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं। ये वन काफी घने होते हैं। इनमें 45 मीटर या इससे अधिक ऊँचे वृक्ष पाये जाते हैं। अधिकांश वृक्ष चौड़ी पत्ती वाले होते हैं।

इनमें लगाये व अधिपादप (epiphyte) पाये जाते हैं। इनमें टाइलोफोरा (Tylophora), स्माइलेक्स (Smilax), पेथोस (Pathos), नीटम (Gnetum) आदि मुख्य हैं। घने छायादार होने के कारण इन वनों में बाँस, ताड़ फर्न आदि पाये जाते हैं।

इन वनों में डिप्टेरोकार्पस (Dipterocarpus), मेसुआ (Mesua), के केलोयलम (Calophylum), शोरिया (Shorea), टूना (Toona), माइकेलिया (Michelea), यूजीनिया (Eugenia), इलियोकार्पस (Eliocarpus) एवं एनाकार्डियेसी, मीलियेसी, सेपोटेसी, कुल के वृक्षीय सदस्य पाये जाते हैं। इन वनों के बीच-बीच में मझोले आकार के वृक्ष जो वस्तुतः लोरेसी, मिरटेसी कुल से संबंधित होते हैं भी उगे देखे जा सकते हैं। झाड़ियों में रूबियेसी एवं एकेन्थेसी कुल के सदस्य होते हैं। छोटे-छोटे समूहों में ताड़ वृक्ष जैसे लिविस्टोनिया (Livistonia), पिन्नेगा (Pinnaga), केरियोटा (Caryota), केलेमस (Calamis), आदि पाये जाते हैं। बाँस कुल के सदस्यों में डेन्ड्रोकेलेमस (Dendrocalamus), बेम्बूसा (Bambusa), मेलोकेना (Melocanna) पाये जाते हैं।

(ii) ऊष्ण कटिबंधीय अर्ध सदाबहार वन (Tropical semi-evergreen forest)

इन क्षेत्रों में औसत वर्षा 200-250 सेमी. प्रति वर्ष होती है। तापमान 26°C के आस-पास रहता है। इन वनों में शुष्क मौसम की अवधि तुलनात्मक रूप से अधिक होती है। इस प्रकार के वन उड़ीसा के समुद्र तट, पश्चिमी बंगाल, आंध्र, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक व केरल में पाये जाते हैं। ये वन पूर्वी हिमालय, आसाम, ब्रह्मपुत्र की घाटी, अण्डमान निकोबार के कुछ क्षेत्रों में भी पाये जाते हैं।

इन वनों में पतझड़ वाली पादप जातियाँ प्रचुरता में पायी जाती हैं। ऊँचे वृक्षों में, जाइलिया (Xylia), टर्मीनेलिया (Terminalia), डिप्टेरोकार्पस (Dipterocarpus), बेलेनोकार्पस (Balonocarpus), आदि की प्रधानता रहती है। मझोले आकार के वृक्षों में श्लीचेरा (Schlichera), बेम्बूसा (Bambusa), मिरटेसी व लोरेसी कुल के सदस्य पाये जाते हैं। सदाबहार जातियाँ एकेन्थेसी एवं रूबियेसी कुल के संबद्ध होती हैं। आसाम के वनों में सीमा वलेची (Schima vallichii) एवं बॉहीनिया के वृक्ष पाये जाते हैं। उड़ीसा के वनों में माइकेलिया, आटोकार्पस, मेंगीफेका वृक्षों की बहुतायत रहती है। अण्डमान क्षेत्र में पाये जाने वाले वनों में स्टरकुलेटिया, एल्बीजिया, टेरोकार्पस पश्चिमी घाट के वनों में डाइसपाइरोस, सालमोलिया एपोरोसा आदि के पेड़ बहुतायत में मिलते हैं। इन वनों में पाये जाने वाले कुछ मुख्य पौधे इक्जोरा, मेल्लोटस, केलेमस, इलेटेरिया, वाइटिस, बॉहीनिया, फर्न, आर्किड मुख्य हैं।

(iii) ऊष्ण कटिबंधीय नम पर्णपाती वन (Tropical moist deciduous forest)

हमारे देश के काफी क्षेत्र में ये वन पाये जाते हैं जिन स्थानों पर 100-200 सेमी. के बीच वर्षा होती है और वर्षा कुछ महिनों तक सीमित रहती है तथा जहाँ पर शुष्क मौसम लम्बा व तीव्र होता है वहाँ पर ये वन पाये जाते हैं। इस प्रकार के वन पश्चिमी घाट के पूर्व में शिवालिक (उत्तरप्रदेश, बिहार के तराई क्षेत्र) के साथ-साथ, दक्षिणी बिहार (छोटा नागपुर) उड़ीसा एवं पूर्वी मध्य प्रदेश में पाये जाते हैं।

इन वनों में पाये जाने वाले अधिकांश पेड़ अप्रैल-मई महिनों में पत्तियाँ गिरा देते हैं यद्यपि, पतझड़ का मौसम अलग होता है। इन वनों में 80-120 फीट ऊँचे वृक्ष पाये जाते हैं। ऊँचे वृक्षों के बीच-बीच में मझोले आकार के वृक्ष एवं झाड़ियाँ पायी जाती हैं। ये झाड़ियाँ सदाबहार होती हैं। इनमें बाँस व केन के वृक्ष देखे जा सकते हैं।

साल एवं सागौन के वृक्ष इन वनों की मुख्य विशेषता है। कर्नाटक, महाराष्ट्र, तमिलनाडु व मध्यप्रदेश के कुछ भागों में चंदन के वृक्ष पाये जाते हैं। दक्षिणी भारत के वनों में टेक्टोना ग्रान्डिस (Tectona grandis) टर्मिनेलिया (Terminalia), शीशम, एण्डिना व बरस्ट्रोमिया आदि की प्रधानता रहती है। उत्तर भारत के वनों में शोरियारोबस्टा, टर्मिनेलिया, डलोनिया, यूजीनिया, बोसवेलिया आदि की प्रचुरता रहती है। अण्डमान क्षेत्र के वनों में टेराकार्पस, टर्मीनेलिया एल्बीजिया, केनेरियम, सालमलिया, आदि के पेड़ बहुतायत में मिलते हैं।

(iv) बेलांचली तथा दलदली वन (Littoral and swamp forest)

ये वन समुद्र तट के किनारे, बलुई डेल्टाओं एवं बड़ी नदियों के किनारे पाये जाते हैं। इन वनों का वातावरण सामान्य रहता है। यहाँ पर वर्षा 76-500 सेमी होती है। मिट्टी बलुई (Sandy) प्रकार की होती है। इस मिट्टी में चूने की मात्रा अधिक होती है जिसमें नाइट्रोजन व खनिज तत्वों का अभाव होता है। मिट्टी ऊपर से देखने पर शुष्क होती है लेकिन जल स्तर कुछ फीट नीचे गहराई में होता है।

केजुएराइना (झाऊ) के लम्बे व सदाबहार वृक्ष इन रेतीले स्थान के बीच बीच में पाये जाते हैं। इनमें बोरासस, फीनिक्स, केलोफाइलम के वृक्ष भी पाये जाते हैं। नारियल के पेड़ भी इस प्रकार के वनों में पाये जाते हैं। अण्डमान के बेलांचली वनों में मेलेनीकारा, मेरिण्डा, पोंगेमिया, टर्मीनेलिया, इरीथ्रीना, बेरिंगटोनिया, थेस्पेसिया, हिबिस्कस, पण्डोनस आदि के पेड़ पाये जा रहे हैं।

बंगाल के सुंदरवन और निकोबार द्वीप समूह में झाऊ (केजुएराइना), राइरोकार्पस, साइकस, एकेन्थस, इक्जोरा, हेरीटियेरा जाति के वृक्ष पाये जाते हैं।

समुद्र की निकटवर्ती नदियों के मुहानों पर पेड़ पौधों के छोटे-छोटे समूह पाये जाते हैं इन स्थानों की मिट्टी सिल्ट, लोम या कड़ी क्ले के रूप में होती है। बंगाल डेल्टा के बड़े टाइडल वन में सुन्दरी (Heritiera fomes) के वृक्ष बहुतायत में पाये जाते हैं। यही कारण है कि इस वन का नाम सुंदरवन पड़ा है। इसके अलावा वन में पाये जाने वृक्षों में पेण्डेनस (केवड़ा), बेंत, ताड़, खजूर की जातियाँ नीपा, एक्सिओकेरिया (Execarea) आदि शामिल हैं। इन वनों को मेंग्रूब (Mangroove) वन भी कहते हैं. इन वनों राइजोफोरा (Rhizophora) सोनेरेशिया (Sonneretia), एजीसिरास (Aegiceras) आदि जातियाँ मुख्य रूप से उगी देखी जा सकती हैं।

टाइडल (दलदल) वाले वनों में पाये जाने वाले वृक्षों में श्वसन मूल या न्यूमेटोफोर्स पानी की सतह से बाहर निकल आती हैं जो ऑक्सीजन का अवशोषण करती हैं। रेतीली भूमि में पौधों को सहारा देने के लिये स्टिल्ट (stilt) जड़ें देखी जा सकती हैं जैसे केवड़ा, में। मेंग्रूब पौधों में विविरस (viviparous) प्रकार का अंकुरण पाया जाता है। लवणीय जल वाले वन मेंग्रूब वाले वनों के पीछे की ओर स्थित होते हैं। यहाँ पर पानी के साथ सिल्ट एवं लवण बहकर आते रहते हैं जिस कारण यहाँ पर मिट्टी की अपेक्षा सिल्ट की मात्रा बढ़ जाती है। यहाँ पर उगने वाले वृक्ष 20 मीटर की ऊँचाई को प्राप्त कर सकते हैं। इन वृक्षों की मोटाई कम होती है, लेकिन ये घने अधिक होते हैं। कुछ प्रमुख वृक्षों में हेरीटेरिया (Heriteria), सिरियोप्स (Ceriops), जाइलोकार्पस (Xylocarpous) उल्लेखनीय हैं।

ताजे पानी वाले दलदल में मध्यम आकार के दलदल पाये जाते हैं। इन वनों में खैर, शीशम विशेषकर उत्तरी भारत के रेतीले बाढ़ युक्त प्रदेशों में पाये जाते हैं। आसाम के एलुवियल (alluvial) भागों में बेंत, की मात्रा अधिक होती है।

इस प्रकार के वनों में घास की जातियाँ प्रचुरता के साथ उगी देखी जा सकती हैं। इनमें टाइफा (*Typha*), फ्रेगमाइटिस (*Phragmitis*), केना (*Canna*), एथेटोडा (*Adathoda*), एसर (*Acer*), पुत्रन्जीवा (*Putranjiva*), ओलिया (*Olea*), फाइकस विशेष उल्लेखनीय हैं।

(v) ऊष्ण कटिबंधीय शुष्क पर्णपाती वन (Tropical dry deciduous forest)

ये वन 100–130 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इस प्रकार के वन पंजाब उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र गुजरात, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक व तमिलनाडु में पाये जाते हैं। इन प्रदेशों में शुष्क मौसम लम्बा होता है जो लगभग 6 माह का होता है। इस अवधि में वृक्ष प्रायः पर्णरहित हो जाते हैं। ये वृक्ष सामान्यतः 10–16 मीटर लम्बे होते हैं तथा इनके बीच में विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ उग आती हैं। दक्षिणी क्षेत्र के वनों में टेक्टोना ग्राण्डिस (*Tectona grandis*) और उत्तरी भारत के वनों में शोरिया रोबस्टा (*Shorea robusta*) की बहुतायत होती है।

टीक (सागोन– टेक्टोना) प्रधानता वाले वनों में शीशम, टर्मिनेलिया, विलेनिया, एकेसिया (बबूल), हेरोस्पर्मम, एनोजिसस हाइविकिया, जिम्नोस्पोरिया, बेर, करोंदा, महुआ, स्टर्कुलेरिया, लेनिया, एडिना, बेल, फालसा के वृक्ष पाये जाते हैं।

आंध्रप्रदेश में पाये जाने वाले वनों में लाल चंदन के अलावा डाइस्पाइरोस, मेल्होटस, महुआ, बिहार में पाये जाने वाले वनों में बबूल जाति के वृक्ष, शीशम, सिरस, पंजाब में पाये जाने वाले वनों में साल्वेडोरा, करील, खजूर, लेप्टीडीनिया, केसिया टोरा आदि पाये जाते हैं।

(vi) ऊष्ण कटिबंधीय कटीले वन (Tropical thorn forest)

ये वन उन क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहाँ पर वर्षा कम होती है। यहाँ पर औसत वर्षा 20–70 सेमी. प्रतिवर्ष होती है। पंजाब, राजस्थान के अधिकांश क्षेत्र गुजरात के कुछ भागों और पेनिनसुला के आन्तरिक क्षेत्रों में ये वन पाये जाते हैं। वर्षा के मौसम के दौरान एपीमेरल (ephimeral) शाक व घास उग आती हैं। यहाँ पर पाये जाने वाले पेड़ों की ऊँचाई 8–10 मीटर होती है। झाड़ियाँ, छोटी व कंटीली होती हैं। वर्ष के अधिकतर माहों में वृक्ष पर्णविहीन हो जाते हैं। इस कारण, इन्हें कटीले स्क्रेब या स्क्रेब फोरेस्ट कहते हैं।

इन वनों में मुख्य रूप से बबूल या कीकर के वृक्षों की बहुतायत होती है। ये पेड़ सम्पूर्ण क्षेत्र में पाये जाते हैं। यूफोर्बिया (*Euphorbia*) की जातियाँ व भारतीय खजूर के पेड़ की अधिक संख्या में पाये जाते हैं। खैर और बबूल व्यापारिक वृक्ष की लकड़ी कृषि यंत्र, ग्रामीण फर्नीचर बनाया जाता है और जलाऊ लकड़ी प्राप्त की जाती है।

कुछ जगह पर एकेसिया अरेबिका (खैर) के वृक्षों की प्रधानता रहती है। ये वृक्ष पूरे जंगल प्रक्षेत्र में पाये जाते हैं। विशेषकर बाढ़ युक्त मध्यभारत में और उत्तरी डक्कन में बेल (*Aegle marmelos*), गोड़ा, बहराइच, आसाम, उत्तरप्रदेश के अन्य क्षेत्रों में व आसाम की पहाड़ियों में डेन्ड्रोकेलेमस (*Dendrocalamus*) की प्रजातियाँ व राजस्थान की अरावली पहाड़ियों में एनोजीसस पेण्डुला (*Anogeissus pendula*), कच्छ से पंजाब तक के क्षेत्रों में प्रोसोपिस स्पाइजेरा (*Prosopis spicigera*) के वृक्ष पाये जाते हैं।

अर्ध सूखा वाले प्रदेश में जो मुख्य पेड़ पौधे पाये जाते हैं उनका उल्लेख इस प्रकार है– एकेसिया (बबूल प्रजातियाँ) केसिया, अमलतास, केलोट्रोपिस (आक), सिरस) (*Albizzia*), रेन्डिया (*Randia*), बेर, एरिथ्रोजाइलॉन (बीजक), यूफोर्बिया, कार्डिया, प्रोसोपिस, साल्वेडोरा, बेल (*Aegle*), जिम्नोस्पोरिया (*Gymnosporea*), ग्रिविया (*Grebeia*), सतावर (*Asparagus*), एट्रीप्लेक्स (*Atriplax*) ब्यूटिया (ढाक), कोचिया, करील (*Capparis*), एडेटोडा (*Adhatoda*), आदि।

मरुचा (1955) ने राजस्थान की गुरूस्थलीय वनस्पतियों को निम्न वानस्पतिक क्षेत्रों में वर्गीकृत किया है–

(1) जैसलमेर व बीकानेर के निकटवर्ती क्षेत्र जहाँ पर रेतीले टीले बनते बिगड़ते रहते हैं।

(2) जोधपुर व इसके निकटवर्ती क्षेत्र जहाँ पर रेतीले टीले स्थाई रूप से पाये जाते हैं।

(3) बलुआ पत्थर (Sandstone) वाले क्षेत्र जहां पर मरुस्थलीय पौधे जैसे यूफोर्बिया (*Euphorbia*) की प्रजातियाँ उगी देखी जाती हैं।

(4) हेलोफिटिक वनस्पति वाले क्षेत्र

(5) सेण्डेलोम पर पायी जाने वाली वनस्पतियाँ

(vii) ऊष्ण कटिबंधीय शुष्क सदाबहार वन (Tropical dry evergeen forest)

यह वन केवल तमिलनाडु के पूर्वी क्षेत्र पर ही सीमित है। यहाँ पर अक्टूबर से दिसम्बर तक प्रचुर मात्रा में वर्षा होती है। यहाँ पर उगने वाले पेड़ पौधे 10–15 मीटर ऊँचे व सदाबहार होते हैं। इनकी पत्तियाँ चर्मिल होती हैं। पेड़ों के नीचे उगने वाली वनस्पतियाँ छोटी व कंटीली होती हैं। ये वन सदाबहार, उच्च वनों के अपभ्रंश रूप माने जाते हैं।

इस प्रकार के वनों में मेनिलकारा हेक्सेन्ड्रा (*Manilkara hexandra*), माइमोप्स इलोंगी (*Mimops elongi*), ड्रायोस्पाइरोस एबेमम (*Diospyros abemum*), यूजीनिया (*Eugenca*), केलोट्रोपिस (आक), बेर, सतावर, मेमोसाइलॉन (*Memecylon*) डेरीस इलोंगेटस (*Derrise elongatus*), बुधनानिया एन्गस्टीफोलिया (*Budhnania angustifolia*) आदि के पेड़ या वृक्ष पाये जाते हैं।

(viii) उपोष्ण चौड़ी पत्ती वाले पहाड़ी वन (Sub-tropical broad leaved hilly forest)

इस प्रकार के वन अधिक वर्षा वाले क्षेत्र में पाये जाते हैं। यहाँ पर (323–665) सेमी. वार्षिक वर्षा होती है और औसत तापमान 18-24°C होता है। महाबलेश्वर, दुर्ग, कर्नाटक, आसाम के भाग पंचमढी और मध्यप्रदेश के कुछ भाग केरल, राजस्थान में माउण्ट आबू, बिहार में पारसनाथ, कलिम्यांग, दार्जिलिंग, नेपाल, भूटान, त्रिपुरा मणिपुर आदि में इस प्रकार के वन पाये जाते हैं। इनको 5 समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(1) **नीलगिरि के उपोष्ण पहाड़ी वन–** यहाँ पर केलोफाइलम इलेटम (*Callophylum elatum*) यूजीनिया (*Eugenia*), रोडोडेन्ड्रॉन नीलगिरिकम (*Rhododendron nilagiricum*) एक्टिनोडेफ्ने हुकेरी (*Actinodaphne hookeri*), स्ट्रोबाइलेन्थ्रिस (*Strobilanthes*) आदि के पेड़ पाये जाते हैं।

(2) **दक्षिण भारतीय उपोष्ण पहाड़ी सवाना–** यहां पर शीशम (*Dalbergia*), एनोजीसस लेटीफोलिया (*Anogeissus latifolia*), आँवला (*Emblica officinatis*), ओलिया डायोका (*Olea dioca*), खजूर, वरनोनिया (*Vernonia*) ओकलेण्ड्रा ट्रावनकोरिका (*Ochlandra travancorca*) के वृक्ष पाये जाते हैं।

(3) **रीड ब्रेक्स** (Reed Brakes) ओकिएण्ड्रा विघटई (*Ochlandra wightii*), वेरोनिका मोनोसिस (*Veronica monosis*), यूजीनिया (*Euginia*), बेन्टोकिया कोडापन्नी (*Bentinckia coddapanna*), पेलेक्यूअम एलीप्टीकम (*Palaquium ellepticum*) आदि के वृक्ष पाये जाते हैं।

(4) **पश्चिमी उपोषण पहाड़ी वन–** साइजीयम कुमनी (*Syzygium cumini*), मेमीसाइलॉन (*Memicylon*), रेन्डिया (*Randia*), टर्मीनेलिया (*Terminalia*), ओलिया डायोका (*Olea dioca*), केपेरिस पेडन्कुलोसा (*Capparis pendunculosa*), जिजीफस रूजोसा (*Zizyphus rujosa*), आम (*Mangifera indiea*), बरगद, पीपल, केसिया आदि के वृक्ष प्रचुरता में पाये

जाते हैं। कहीं कहीं पर बाँस एवं ताड़ के वृक्ष भी पाये जाते हैं। आरोही पौधों में स्माइलेक्स (*Smilax*), नीटम (*Gnetum*) रोजा (*Rosa*), पाइपर (*Piper*), क्लीमेटिस (*Clematis*) आदि प्रचुरता में पाये जाते हैं।

(5) **मध्य भारतीय उपोष्ण पहाड़ी वन**– पंचमढ़ी, माउण्ट आबू, पारसनाथ की पहाड़ियों में साइजीयम क्युमिनी (*Syzygium cumini*), मेलिनकारा हेक्सेन्ड्रा (*Manilkara hexandra*), लिटसिया मोनोपेटलम (*Litsea monopetalum*), फाइकस की जातियाँ नील (*Indigofera*) कचनार, आँवला, बेल, जाइलिया जाइलोकार्पा (*Xylia xylocarpa*) आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। झाड़ीनुमा वृक्षों में बारलेरिया (***Barleria***), बरबेरिस (*Berberis*), रूबिया (*Rubia*), थेलिक्ट्रम (*Thalictrum*), कोलियस (*Coleus*) आदि मुख्य वृक्ष हैं।

(ix) उपोष्ण चीड़ के वन (Sub-tropical pine forest)

ये वन पश्चिमी एवं मध्य हिमालय क्षेत्र में पाये जाते हैं जो समुद्र तल से 3000-6000 फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। आसाम की पहाड़ियों पर इस प्रकार के वन पाये जाते हैं। इन वनों में पाइनस (*Pinus*) की प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इनमें पाइनस की जातियों में पाइनस खासया (*P. khasya*) पा. राक्सबर्घाइ (*P. roxburghii*) मुख्य हैं। चीड़ के वृक्षों के अलावा यहाँ पर क्वरकस (*Quercus*), बाहीनिया (*Bauhinia*), रौडोडेन्ड्रॉन आरबोरियम (*Rhododendron arboreum*), एल्बीजिया स्टीपुलेटा (*Albizzia stipulata*) फाइकस राक्सबर्घाइ (*Ficus roxburghii*), मिरिका (*Myrica*), क्रेटीगस (*Cratigus*) आदि के वृक्ष पाये जाते हैं।

(x) उपोष्ण शुष्क सदाबहार वन (Sub-tropical dry evergreen forest)

हिमालय की तलहटी व काश्मीर में इस प्रकार के वन पाये जाते हैं। ये वन 1500-5000 फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं, जहाँ पर वर्षा कम होती है। यहाँ पर वर्षा-40-80 सेमी. होती है। सर्दियों में कोहरा छाया रहता है लेकिन, ग्रीष्म ऋतु में गर्मी पड़ती है।

ओलिया कप्सीडेटा (*Olea cupsidata*) इन वनों में प्रधानंता से मिलते हैं। इसके अलावा अन्य सहयोगी पौधों में एकेसिया मोडस्टा (*Acacia mudesta*) डीडोनिया विस्कोसा (*Dodonia viscosa*), एडेथोडा विस्कोसा (*Adathoda viscosa*), केरिसा (*carrisa*), और बौने एवं रेंगने वाले ताड़ शामिल हैं।

(xi) मोन्टेन आर्द्र शीतोष्ण वन (Montane wet temperate forest)

ये वन 1800-3000 फीट की ऊँचाई पर हिमालय, में नेपाल से आसाम तक फैले हुये हैं। दक्षिणी भारत की नीलगिरि, अन्नामलाई, पलनी, तिरुनेकक्ली पहाडियों में भी इस प्रकार के बने पाये जाते हैं।

ये वन सदाबहार, हरे, घने होते हैं। वृक्षों के ऊपरी भाग (केनोपी) आपस में मिले होते हैं। वृक्षों की ऊँचाई 15-20 मीटर होती है। इन वनों को शोला कहते हैं। आरंभ में इन वृक्षों की पत्तियाँ लाल होती हैं जो बाद में अलग-अलग रंगों की हो जाती हैं। अधिपादप (Epiphyte) इन वनों में बहुतायत से मिलते हैं। दक्षिणी भारत में पाये जाने वाले इन वनों में टर्नस्ट्रोमिया (*Ternstroemia*), गाइनेन्थेरा (*Gynanthera*), यूजीनिया (*Eugenia*) केलोफाइलीफोलिया (*Calophylifolia*), माइकेलिस (*Michelis*), इलक्स (*Ilux*), रोडोडेण्ड्रन (*Rhododendron*) वेक्सीनम (*Vaccinum*) आदि हैं। अरुणाचल प्रदेश के वनों में क्रकस लेमेलोसा (*Quercus lamellosa*) केरकस पेकफाइला (*Q. pachphylla*), एसर (*Acer*), लिटसिया (*Litsea*) की प्रधानता रहती है।

(xii) हिमालय के नम शीतोष्ण वन (Himalayan moist temperate forest)

ये वन हिमालय के उन सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं जो 5000-11000 फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। यहाँ पर 100-250 सेमी. वार्षिक वर्षा होती है। ये वन दक्षिण पूर्वी काश्मीर, उत्तरी पंजाब, हिमाचल प्रदेश आसाम की उत्तरी पट्टी तक फैले हुये हैं।

आसाम के वन घने होते हैं। यहाँ पर सदाबहार ओक (Oak), लॉरेल्स (Laurels), चेस्ट नट (Chest nut) पाये जाते हैं। बाँस के पेड़ भी छिट पुट अवस्था में पाये जाते हैं। सुदूरपूर्वी भाग में कोनीफर्स वृक्ष पाये जाते हैं। दक्षिणी ढलानों के वनों में चीड़, सिड्रस, सिल्वरफर, स्प्रूस के पेड मिलते हैं। वन के मध्य स्तर में ओक, रोडोडेन्ड्रॉन, एवं बाँसों की अधिकता होती है। देवदार के वन पश्चिमी भाग में पाये जाते हैं। यहाँ पर औसत वर्षा 100-150 सेमी. वार्षिक होती है। पश्चिमी हिमालय की वनस्पतियों में सफेद ओक जैसे क्रकस इनकाना (*Quercus incana*) हरा ओक (*Q. dilata*), भूरा ओक (*Q. semicarpifolia*), सिड्रस देवदार (*Cedrus deodera*) पाइनस वेलीचियाना (*P. wallichiana*) थूजा डुमोसा (*Thuja dumosa*), एबीज (*Abies*) टेक्सस (*Texas*), क्रकस (*Quercus*) आदि के पेड़ पाये जाते हैं। आरोही पौधों में क्लीमेटिस (*Clematis*), स्माइलेक्स (*Smilax*), वाइटिस (*Vitis*), जेस्मीनियम (*Jasminium*) आदि पाये जाते हैं।

(xiii) हिमालय के शुष्क शीतोष्ण वन (Himalayan dry temperate forest)

हिमालय की आन्तरिक श्रेणियों में कुछ खुले मरूदभिद प्रकार के वन पाये जाते हैं। इन वनों में कोनीफर्स की प्रधानता रहती है। ये वन 3000-4000 सेमी. की ऊँचाई पर उत्तरप्रदेश से लेकर हिमाचल प्रदेश होते हुये पंजाब एवं काश्मीर तक फैले हुये हैं।

यहाँ पर देवदार एवं जूनीपर के वृक्ष बहुतायत में मिलते हैं। इसके अलावा, ओक, एश, पाइनस जिरार्डियाना (*Pinus gerardiana*) एवं क्वरकस इलेक्स (*Quercus elex*) की जातियाँ सामान्य तौर पर पायी जाती हैं। अन्य सहायक वनस्पतियों के रूप में डेफ्ने (*Daphne*), इण्डिगोफेरा (*Indigofera*), केन्नाबिस (*Cannabis*), डेस्मोडियम (*Desmodium*) अनेक प्रकार के अधिपादप (epiphytes) बाँस, लाइकेन्स की जातियाँ भी पायी जाती हैं। छोटे आकार के पौधों में रूबस (*Rubus*), वायोला (*Viola*) डेस्मोडियम (*Desmodium*), रोजा (*Rosa*), फ्रेगेरिया (*Fragaria*) आदि भी पाये जाते हैं।

(xiv) सब-अल्पाइन वन (Sub-alpine forest)

समुद्र की सतह से 2000-6000 मीटर की ऊँचाई पर उगने वाले पौधों को अल्पाइन या पर्वतीय (Alpine) पौधे कहते हैं। भारत में अल्पाइन पौधों (वृक्षों) के वन सामान्यतः 4500-6000 मीटर की ऊँचाई पर लद्दाख से अरुणाचल प्रदेश के क्षेत्र में पाये जाते हैं। इसके नीचे की सतह पर कोनीफर्स पाये जाते हैं। अल्पाइन क्षेत्र में और भी अधिक ऊँचाई पर मरूद्भिद झाड़ियों अल्पाइन मीडोज (Alpine meadows) के साथ मिलते हैं। अल्पाइन वृक्षों में एबीज (*Abies*), पाइनस (*Pinus*), जूनीपर्स (*Junipers*), बेटुला (Betula) झाड़ी के आकार के रोडोडेड्रान (Rhododendron), क्वेरक (*Quercus*) पाइनस (*Pinus*), सेलिक्स (*Salix*) मुख्यतः मिलते हैं।

यहाँ पर लाइकेन्स एवं मॉसेस पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं इसके साथ अधिपादप भी पाये जाते हैं। चेम्पियन ने सब अल्पाइन वनों को दो समूहों में वर्गीकृत किया है-

(1) **सिल्वर फर एवं बिर्च वन**– ये वन बर्फीले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। यहाँ पर एबीज वेबियाना (*Abies webbiana*) प्रचुरता में पाये जाते हैं। ये छोटे आकार के वृक्ष हैं जिनकी पत्तियाँ छोटी होती हैं जिनकी शाखायें ऊपर की ओर मुड़ी होती हैं इसके अलावा, वहाँ पर

एवीज डेन्सा *(A. densa)*, पाइनस वेलीचियाना *(P. wellichiana)*, बेटुला यूटीलिस *(Betula utilis)* क्वरकस सेमीकार्पीफोलिया *(Quercus semicarpifolia)* एवं रोडोडेण्ड्रान *(Rhododendron)* के वृक्ष भी पाये जाते हैं।

(2) बिर्च रोडोडेण्ड्रॉन वन– ये वन पथरीले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। यहाँ पर क्वरकस सेमीकार्पीफोलिया, बेटुला यूटीलिस रोडोडेण्ड्रान *(Rhododendron)* की जातियों के अलावा जूनीपेरस, बरबेरिस और रोजा के वृक्ष भी प्रचुरता के साथ मिलते हैं।

(xv) नम अल्पाइन स्क्रब (Moist alpine scrub)

इस प्रकार की वनस्पतियाँ हिमालय क्षेत्र में अधिक ऊँचाई पर मिलती हैं। ये वन घने होते हैं जिनमें सदाबहार बौने रोडेडेण्ड्रान, कुछ बिर्च की जातियाँ व अन्य पतझड़ी वन पाये जाते हैं। भूमि पर माँस व फर्न, कुछ मीजोफाइटिक शाकीय पौधे व घासें पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर जूनीपेटस रिकर्वा *(Juniperus recurva)*, जूनीपेइस म्यूनिस *(J. communis)*, सेलिक्स फ्रूटीकुलेसा *(Salix fruticulosa)*, बरबेरिस, पॉलीगोनम, फ्रिटिलोरिया, सेक्सीफ्रेगा *(Saxifraga)* की जातियाँ भी उगी देखी जा सकती हैं।

(xvi) शुष्क अल्पाइन–स्क्रब (Dry alpine scrubs)

ये खुली व मरूद्भिदीय प्रकार की वनस्पतियाँ हैं जो उत्तरप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, काश्मीर में पायी जाती हैं। इनमें आर्टीमीसिया *(Artemisia)*, पोटेन्टीला *(Potentila)*, कोचिया *(Kochia)*, जूनीपेर्स *(Junipers)* के वृक्ष पाये जाते हैं।

प्रश्न–16. राष्ट्रीय पार्क से आप क्या समझते हैं? मध्यप्रदेश के राष्ट्रीय पार्कों का वर्णन कीजिये। [भोपाल 2007,10,15]

अथवा

मध्यप्रदेश में स्थित विभिन्न राष्ट्रीय पार्कों पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

[जीवाजी 2005,06,10 सागर 2005,06,09,14]

उत्तर– सन् 1969 में नई दिल्ली में IUCN की एक सभा में राष्ट्रीय पार्क को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है–

(1) इसमें एक या अनेक इकोसिस्टम प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं तथा जो मानव के विघटनकारी कार्यों तथा अतिक्रमण से खराब नहीं हुये हों जिसमें पादपों व पशुओं की प्रजातियों तथा विशेष वैज्ञानिक शिक्षा व आमोद–प्रमोद के प्राकृतिक या जियोमोर्फीलॉजीकल स्थान या दृश्य हों या जहां पर सुन्दर प्राकृतिक दृश्य पाये जावें।

(2) वे स्थान जहां पर पारिस्थितिकीय जियोमोर्फीलोजिकल या अन्य कारणों से रख–रखाव किया हो।

(3) जहां पर पर्यटकों को विशेष परिस्थितियों जैसे–शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा आमोद–प्रमोद के उद्देश्यों के लिये प्रावधान या व्यवस्था हो।

राष्ट्रीय पार्क या सेन्चुरीज एक प्रकार के नहीं होते, इनमें कुछ न कुछ अलग–अलग प्रकार की विशेषतायें अवश्य पायी जाती हैं, जैसे– गिर नेशनल पार्क में शेर, कांजीरंगा राष्ट्रीय पार्क में गेंडे (Rhinoceros) पाये जाते हैं। देश के मुख्य राष्ट्रीय पार्क में कान्हा राष्ट्रीय पार्क तथा कार्बेट राष्ट्रीय पार्क उल्लेखनीय हैं। पूरे संसार में भरतपुर राष्ट्रीय सेन्चुरी उल्लेखनीय है। 'राष्ट्रीय पार्क ऐसे बड़े क्षेत्र हैं जहां पर जीव जन्तुओं को मानव प्रबन्धन के अन्तर्गत सुरक्षित रखा जाता है।'

मध्यप्रदेश के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यानों (national parks) का वर्णन निम्न प्रकार है–

1. कान्हा राष्ट्रीय उद्यान **(Kanha National parks)**– यह मध्यप्रदेश के मंडला जिले में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 940 वर्ग किलोमीटर है। यहाँ पर बाघ, तेंदुआ, जंगली भैंसा एवं बारहसिंहा पाये जाते हैं। चीता सांभर एवं विभिन्न प्रजातियों के हिरन तथा जंगली सुअर भी पाये जाते हैं।

2. माधव राष्ट्रीय उद्यान **(Madhav National Parks)**– यह शिवपुरी जिले में ग्वालियर के पास स्थित है। इसका क्षेत्रफल 337 वर्ग किलोमीटर है। यहां शेर, बाघ, गजेल, साँभर, चीतल आदि जीव पाये जाते हैं।

3. बाँधवगढ़ राष्ट्रीय उद्यान **(Bhandhav garh National Parks)**– यह शहडोल जिले में स्थित है। यह 437 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला हुआ है। यहां पर साँभर, गौर, जंगली मोर, गीदड़, नीलगाय चौसिंहा, रेटिल, हियेना, बाघ, तेंदुआ आदि पाये जाते हैं।

4. पेंच राष्ट्रीय उद्यान– यह सिवनी (छिंदवाड़ा) में स्थित है। इसका क्षेत्रफल 293 वर्ग किमी है। यहां सांभर, चीतल, तेन्दुआ, गौर, नीलगाय एवं बाघ आदि पाये जाते हैं। इनके अलावा मध्यप्रदेश के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यानों का विवरण इसप्रकार हैं–

राष्ट्रीय पार्क/सेन्चुरी का नाम	जिला क्षेत्रफल वर्ग किलोमीटर में	पायी जाने वाली जातियां	निकटवर्ती हवाई अड्डा	निकटवर्ती रेल्वे स्टेशन
1. कान्हा राष्ट्रीय पार्क	मण्डला एवं बालाघाट 940	शेर, तेंदुआ, मोर, बारहसिंघा, चीतल, सांभर, ब्लेक डक, वारकिंग, हिरन माउस, हिरण, नीलगाय जंगली कुत्ता।	नागपुर 270 कि.मी.	जबलपुर 170 कि.मी., नागपुर 260 कि.मी., चिरीडोगरी 110 कि.मी.।
2. बाँधवगढ़ राष्ट्रीय पार्क	शहडोल 105	शेर, चीता, गौर, चीतल, सांभर, नीलगाय, चिन्कारा, हिरण, रीछ, मोर तथा विभिन्न प्रकार की चिड़ियां।	जबलपुर 170 कि.मी., खुजराहो 210 कि.मी.।	उमरिया 30 कि.मी.
3. माधव राष्ट्रीय उद्यान, शिवपुरी	शिवपुरी 156	शेर, चीता, रीछ, सांभर, चीतल, चित्तीदार हिरण, चार सींगवाला बारहसिंघा, काली बतख, नीलगाय, चिन्कारा, जंगली मोर, घड़ियाल, सौन चिरैया।	ग्वालियर 120 कि.मी.	झांसी 97 कि.मी., ग्वालियर 120
4. बोरी वाइल्ड लाइफ सेन्चुरी	होशंगाबाद 802	शेर, चीता, नीलगाय, सांभर, चीतल, हिरण, चिन्कारा, जंगली रीछ, मोर।	पंचमढ़ी 32 कि.मी., भोपाल 200 कि.मी.।	इटारसी 184 कि.मी.
5. कुट्टी वाइल्ड बुफेलो गेम सेन्चुरी	बस्तर 1258	जंगली भैंसा, शेर, चीता, रीछ, नीलगाय, चीतल, सांभर, जंगली सुअर, हिरण, विसन, जंगली चौसिंघा।	माना हवाई अड्डा रायपुर 490 कि.मी.	जगदलपुर 200 कि.मी.
6. पन्ना गेम सेन्चुरी, पन्ना	पन्ना 478	शेर, चीता, सांभर, चीतल, जंगली सुअर, नीलगाय।	खजुराहो 20 कि.मी.	सतना 95 कि.मी.

7. गोमर्धा गेम सेन्चुरी	रायगढ़ 133	शेर, चीता, सांभर, चीतल, नीलगाय, हिरण	रायपुर 202 कि.मी.	रायगढ़ 70 कि.मी., रायपुर 202 कि.मी.।
8. बादल खोल गेम सेन्चुरी, रायगढ़	रायगढ़ 104	शेर, बाघ, सांभर, चीतल, नीलगाय।	रांची 240 कि. मी. रायपुर 386 कि.मी.	रायगढ़ 184 कि.मी.
9. तामोर पिंगरना सेन्चुरी, सरगुजा	सरगुजा 608	शेर, बाघ, चीतल, सांभर आदि।	बनारस 200 कि.मी.	पिम्परी 80 कि.मी.
10. पंचमढ़ी	होशंगाबाद 655	शेर, बाघ, रीछ, विसन, चित्तीदार हिरण, सांभर, नीलगाय।	पचमढ़ी	पिपरिया 25 कि.मी.
11. राष्ट्रीय चम्बल सेन्चुरी, मुरैना	मुरैना 655	घड़ियाल	मुरैना	ग्वालियर 35 कि.मी.
12. दुवारी गेम सेन्चुरी, सीधी	सीधी 364	शेर, बाघ, सांभर, चीतल, हिरण, नीलगाय, चिन्कारा।	सीधी 65 कि.मी.	सीधी 65 कि.मी.

प्रश्न–17. भारत में पायी जाने वाली घास स्थल वनस्पतियों का संक्षेप में विवेचन कीजिये। [सागर 2007,14]

अथवा

भारत में पायी जाने वाली घास स्थल वनस्पतियों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। [जीवाजी 2006]

उत्तर– घास स्थल एक ऐसा क्षेत्र होता है जहाँ पर घास एवं घास के समान छोटे पौधों की बहुतायत रहती है। बार–बार वर्षा होना और पर्याप्त गर्मी घास के स्थल के विकास के लिये नितान्त आवश्यक परिस्थितियाँ हैं। घास के मैदान आसाम की खासी पहाड़ियाँ एवं नीलगिरी की पहाड़ियों पर पाये जाते हैं। वास्तविक घास स्थल ऊष्ण कटिबंधीय भारत में नहीं पाये जाते हैं जिसके निम्नलिखित कारण हैं–

(1) निचली भूमि पर घास को वृक्षों व झाड़ियों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है।

(2) शुष्क क्षेत्रों की परिस्थितियाँ अत्यधिक प्रतिकूल होती हैं जिस कारण वास्तविक घास स्थल का विकास नहीं हो पाता है। आग या आग के साथ पशुओं को अनियंत्रित चराई वे महत्वपूर्ण कारक हैं जिस कारण घास स्थल को वृद्धि एवं उसके अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। नीलगिरी, नागा पहाड़ियों में घास के मैदान व समतल क्षेत्र पाये जाते हैं। निचली ऊँचाई पर घास के समूह (tuft) पाये जाते हैं जबकि ऊपरी ऊँचाई पर घास के गुच्छे पाये जाते हैं। लगभग 1800 मीटर या इससे अधिक ऊँचाई पर घास के गुच्छे बनते हैं। लगभग 1800 मीटर के ऊपर साइपरेसी के सदस्य प्रधानता से मिलते हैं। आग में नष्ट होने वाले क्षेत्रों में लम्बी घास उगती हैं। उनके बीच–बीच में पेड़ (सबाना) दिखाई पड़ते हैं।

भारत के ऊष्ण कटिबंधीय घास स्थलों को निम्न तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(1) **जिरोफिलस (Xerophyllous) घास स्थल–** ये अर्ध मरुस्थलीय क्षेत्रों विशेषकर ये उत्तरी पश्चिमी भारत में पाये जाते हैं। इसमें एण्डोपोगोन कन्टार्टस *(Andropogon contortus)*, सेन्क्रस सीलियेटिस *(Cenchrus ciliaris)* तथा से. बारबेटस *(C. barbatus)* प्रकार की घासें पायी जाती हैं।

(2) **मीजोफिलस (Mesophilous) घास स्थल–** उत्तर प्रदेश के पतझड़ी वनों में बड़े–बड़े घास के मैदान पाये जाते हैं जिनमें सेकेरम मुंजा *(Saccharum munja)*, मूंज एवं

सेकेरम नेरेंगा *(S. narenga)* घासें मुख्य रूप में पायी जाती हैं। इन घास स्थलों को सबाना कहा जाता है।

(3) **हाइग्रोफिलस (Hygrophillous) घास स्थल–** इस प्रकार के घास स्थान को आर्द्र सबाना कहते हैं। ये घासें नम भूमि में आने के लिये पूरी तरह से आर्द्रकूलित होती हैं।

आर.ओ. व्हाइट ने भारत में 8 प्रकार के वितरण क्षेत्र बताये हैं जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है–

भारत के प्रमुख घास स्थलों का भौगोलिक वितरण

घासस्थल प्ररूप	प्रभावी जातियाँ	कुछ सामान्य जातियाँ	विवरण	वातावरणीय स्थिति
1. सीमा–डाइकैन्थियम	साटिमा, सैकेकेटम सै. नरवोसन्स, डाइकेन्थियम एन्नुलेटम, क्राइसोपोगोन मोन्टैनस।	इस्कीमम रोगोसम, इसीलीमा लैक्सम, हेटेरोपोगोन कोन्टार्टस।	हैदराबाद, बम्बई, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु, दक्षिण, पूर्व उत्तर प्रदेश।	काली मिट्टी।
2. डाइकैन्थियम–सेन्क्रस	डाइकैन्थम एन्नुलेटम सेन्क्रस सिलिएरिस।	बोथ्रियो फ्लोवा परटुसा, सायनोडोन डैक्टाइलोन एरगोस्टिस जाति।	पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, गुजरात, (कच्छ), पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार।	सैन्डी लोम।
3. सेन्क्रस–फ्रैगमाइट्स	फ्रेगमाइटिस कार्पा, सैकेरम स्पोनटेनियम, इम्पेरेटा सिलिण्ड्रिका	–	उत्तर–प्रदेश के तराई क्षेत्र, बिहार, बंगाल, आसाम, सुन्दर वन तथा अन्य कछारी प्रदेश।	दलदली क्षेत्र।
4. बोथ्रियो क्लोवा	बोर्थियो क्लोवा।	–	महाराष्ट्र (लोनावाला पट्टी)	निचली भूमि जहाँ वर्षा अधिक होती है।
5. अरुनडिनेला	अरुनडिनेला नेपालेन्सिस	क्राइसोपोगोन	पश्चिमी घाट, नीलगिरी, हिमालय, पूर्वी पंजाब, 2,000 मी. ऊँचाई तक हिमालय प्रदेश के क्षेत्र।	उच्च पर्वत।
6. सिम्बोपोगोन	सिम्बोपोगोन	थेमीडिया, हेटेरोपोगोन	पश्चिमी घाट, विंध्याचल, सतपुड़ा, अरावली की पहाड़ियाँ, 1000 मीटर की पट्टी उड़ीसा में।	कम ऊँचाई वाली।
7. अरुनडिनेला डेईउक्सिया	डेईउक्सिया, अरुनडिनेला, ब्रेकिपोडियम, ब्रोमस, फेस्टुका।	–	हिमालय, काश्मीर, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल, आसाम।	मिश्रित शीतोष्ण जलवायु।

8. डेईउक्सिया, डेसकैम्पसिया	डेईउक्सिया, डेसकैम्पसिया, पोआ, स्टाइपा, ग्लाइसेरिया, फेस्टुका।	डेसकैम्पसिया, कैस्पीटोसा, ट्राइसीटम स्पीकैटम।	हिमालय, काश्मीर (25,000 फी. से अधिक ऊँचाई पर)	शीतोष्ण अल्पाइन जलवायु।

प्रश्न–18. मध्यप्रदेश के वानस्पतिक तथा पादप प्ररूपों का वर्णन कीजिये।

[सागर 2005,10,15 भोपाल 2005,06,14 जीवाजी 2006,07]

उत्तर– मध्यप्रदेश के वानस्पतिक एवं पादप प्ररूपों को नीचे लिखे प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

दक्षिणी क्षेत्र– इस क्षेत्र के अन्तर्गत 48,790 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र आता है जो बेलाडीला तथा बस्तर को घेरे हुये है। यह क्षेत्र समुद्र तल से लगभग 4000 फीट ऊँचाई पर है। यहां पर इन्द्रावती, साब्री, कोट्री, महानदी, दूध, तन्दुला मुख्य नदियां हैं। इस क्षेत्र में 140–160 सेमी वर्षा होती है।

मध्यप्रदेश में सम्पूर्ण वन क्षेत्र का 11.7% दुर्ग में, 39.79% रायपुर में तथा 64.39% बस्तर में पाया जाता है। इन वनों में अच्छे किस्म की सागौन (Tectona grandis), साल (Shorea robusta) के वृक्ष पाये जाते हैं। इसके अलावा सहयोगी वृक्षों के रूप में यहां पर साजा, तेन्दू, बीजा के वृक्ष मुख्य हैं। बाँस भी यहां पर प्रचुरता के साथ पाया जाता है।

पूर्वी क्षेत्र– इस क्षेत्र में 38,282 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र सम्मिलित हैं। अधिकांश क्षेत्र पहाड़ियाँ व ऊबड–खाबड़ के रूप में हैं। यहां पर 120–160 सेमी. औसत वर्षा होती है। यहां के वनों में अर्ध–सदावहार (semi evergreen) तथा पर्णपाती जातियों का मिश्रण हैं मुख्य रूप से यहां साल तथा मिश्रित वन हैं। बीजा, साजा, घावरा, भीरा, तेन्दू, साल यहां के मुख्य सहयोगी वन हैं। महुआ, कत्था, गोंद, हर्रा, आंवला, चिरैता आदि वन उत्पाद हैं।

मध्य क्षेत्र– इसमें लगभग 52,082 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र आता है। इसका दो–तिहाई भाग सतपुड़ा रेन्ज तथा मेकल पहाड़ियों से घिरा है। नर्मदा, गोदावरी के क्षेत्र भी यहां पर आते हैं। यहां पर औसत वार्षिक वर्षा 100–140 सेमी. होती है।

टीक के जंगल व मण्डला, बैतूल, सिवनी तथा छिन्दवाड़ा में अधिकता के साथ मिलते हैं। साल के बड़े–बड़े वन मण्डला बालाघाट, शहडोल जिलों में पाये जाते हैं। बालाघाट, मण्डला, छिन्दवाड़ा और शहडोल में मिश्रित प्रकार के वन पाये जाते हैं। बालाघाट, मण्डला, छिन्दवाड़ा और शहडोल में मिश्रित प्रकार के वन पाये जाते हैं। कुछ अन्य सामान्य वनस्पतियां, बांस, साजा, लेन्डिया, धाओरा, बीजा, तेन्दू पलास, हर्रा और आंवला हैं।

पश्चिमी क्षेत्र– यह क्षेत्र 26,081 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला हुआ है। अधिकतर पहाड़ी क्षेत्र है। इसमें रतलाम, झाबुआ के पश्चिमी भाग, धार एवं खरगौन के पूर्वी भाग शामिल हैं। यहां पर 80 से 90 सेमी. वर्षा होती है।

यहां पर मुख्य रूप से मिश्रित प्रकार के वन पाये जाते हैं। जिनमें टीक, सलई, धाओरा, अंजन, बबूल, सांजा, बेर, करोंदा आदि के समूह पाये जाते हैं। झाबुआ क्षेत्र में महुआ के वृक्ष प्रचुरता के साथ पाये जाते हैं। सागौन के जंगल, विन्ध्य प्रदेश, सतपुड़ा पर्वतमाला में अधिकता के साथ मिलते हैं। इन जंगलों में फूल, गोंद, मधु, मोम, ताड़, गुलाब, तेन्दू पत्ते आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्यप्रदेश की वन तथा वनस्पतियां– सम्पूर्ण मध्यप्रदेश को सागौन तथा मिश्रित प्रकार के वनों में विभाजित किया जा सकता हैं। मध्यप्रदेश के पूरे वन–क्षेत्र का आधा भाग मिश्रित

प्रकार के वनों से ढका है। शेष चौथाई भाग में यहां पर साल और सागौन के वृक्ष लगे हुये हैं। चेम्पियन एवं सेठ के अनुसार यहां पर चार प्रकार के वन पाये जाते हैं–

(क) अर्ध ऊष्ण कटिबंधीय पहाड़ी वन– ये वन ऊँचे पहाड़ों पर सीमित हैं। यहां पर औसत वर्षा 180 सेमी. से अधिक होती है। पचमढ़ी और बेलाडीला इसके मुख्य क्षेत्र हैं। यहां पर पर्णपाती वनों की तुलना में सदाबहार वन अधिकता में पाये जाते हैं। केन बेलाडीला इसके मुख्य क्षेत्र हैं। यहां पर पर्णपाती वनों की तुलना में सदावहार वन अधिकता में पाये जाते हैं। केन बेलाडीला के दलदलीय क्षेत्रों और बस्तर मे पाया जाता है। पंचमढ़ी में पेड़ के समान फर्न पाये जाते हैं। अमरकंटक में क्लीमेटिस जाति पायी जाती हैं। इसके अलावा छोटी–छोटी पहाड़ियों पर साल, टर्मीनेलिया आदि के वृक्ष पाये जाते हैं।

(ख) ऊष्ण कटिबंधीय आर्द्र पर्णपाती वन–

(i) पूर्वी साल– पूरे पूर्वी मध्यप्रदेश, मण्डला, जबलपुर, बालाघाट, सीधी तथा दुर्ग जिलों के पूर्वी भागों में पंचमढ़ी तक यह क्षेत्र पाया जाता है। यहां पर वार्षिक वर्षा 100–160 सेमी तक होती है। प्रदेश के सर्वोत्तम साल के वनों में एक मुख्य वन बस्तर जिले की कांगेर घाटी में पाया जाता है। साल के वृक्ष 42 मीटर तक ऊंचे होते हैं तथा इनका व्यास 120 सेमी तक होता है। इनसे अच्छे किस्म की इमारती लकड़ी प्राप्त होती है।

(ii) सागौन सहित / रहित मिश्रित वन– यह वन नर्मदा नदी के दक्षिण, रायपुर में पश्चिम से पूर्व तक एवं बस्तर जिले के पश्चिमी भाग तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र में औसत वर्षा 125 सेमी तक होती है। शुद्ध सागौन के वन बैतूल, छिन्दवाड़ा, सिवनी, सागर व मण्डला जिलों में पाये जाते हैं।

(ग) ऊष्ण कटिबंधीय शुष्क पर्णपाती वन–

(i) उत्तरी उप–प्रकार– ये वन नर्मदा–सौनघाटी के पश्चिमी एवं उत्तरी भागों में सीमित हैं। यहां पर औसत वर्षा 75 सेमी होती है।

(ii) दक्षिणी उप–प्रकार– यह वन खरगौन, खण्डवा, इन्दौर, धार, देवास, झाबुआ में पाये जाते हैं। यहां पर औसत वर्षा 100 सेमी होती है। यहां पर सागौन के अलावा टर्मीनेलिया, रोमेन्टोसा आदि वन पाये जाते हैं।

(घ) कंटीले वन– (i) उत्तरी उप–प्रकार (ii) दक्षिणी उप–प्रकार।

प्रश्न–19. मध्यप्रदेश की घास स्थल वनस्पति का वर्णन कीजिये।

[भोपाल 2006,14 जीवाजी 2006,07,10,18]

उत्तर– मध्य प्रदेश की घास स्थल वनस्पति को डॉ. तिवारी के अनुसार आठ प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. एण्ड्रोपोगोन पुनीलस– हेलेण्डिया लेटिब्रोस प्रकार (Andropogon pumilum-Heylendia latebrosa type)– मध्यप्रदेश के पहाड़ी स्थानों में जहां की मिट्टी हल्के लाल रंग की महीन (Fine), शतकणी (Gritty), तथा बलुई (Sandy) होती है, वहाँ पर चरागाहों का निर्माण करके घास स्थलों को बनाया जाता है। इन चरागाहों में विभिन्न प्रकार की घासों (grasses) की अनेक जातियाँ लगाई जाती हैं। जैसे– एरिस्टीडा एडसेन्सियोनिस, केशिया तोरा एवं हिटरोपोगोन कोन्टोर्टस आदि।

2. एण्ड्रोपोगोन पुनीलस इण्डीगोफोरा प्रकार (Andropogon pumilus-Indigofera type)– मध्य प्रदेश के मैदानी एवं पठारी भागों में भूरे लाल रंग की स्थायी रेतीली मिट्टी पाई जाती है, जहां पर घास स्थल बनाये जाते हैं। इनमें विभिन्न प्रकार की घासों की जातियाँ उगाई जाती हैं। जैसे– एण्ड्रोपोगोन पुमीलस, इण्डीगोफेरा, कॉडीफोलिया,

इण्डीगोफेरा लिनीफोलिया, अर्गेस्टिस विस्कोसा, अर्गोस्ट्रिस टेनेला तथा मेंलेनोसेन्क्रिस रोयलियाना आदि। इन घासों की जातियों के अतिरिक्त अन्य घासों की जातियाँ, जैसे- पोलीगेला चाइनेन्सिस, कन्वोल्कुलस प्लूरीकोलियस, इवोल्वुलस एल्सीनोडिस, ट्राइकोडेस्मा इन्डिका आदि।

3. **गोइक्सलेक्राइमा जोबी–हेलेडिया लेटी ब्रोसा प्रकार (Goixlachryma Jobi Heylandia latebrosa type)–** मध्य प्रदेश में पायी जाने वाली नहरों तथा नदियों के किनारों की मिट्टी बहुत नम तथा गहरे काले रंग की होती है जिसमें कार्बोनेट्स (CO_3), नाइट्रेट्स (NO_3) प्रचुर मात्रा में पाये जाते है तथा कार्बनिक पदार्थों की अधिकता होती है ऐसे स्थानों में घास स्थलों की स्थापना की गयी। जिनमें विभिन्न प्रकार की घासों की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं, जैसे– एलाइसीकारपस, एटाइलोसिया प्लेटीकार्पा, हिलेन्डिया लेट्रेब्रोसा आदि।

4. **ब्रोथ्रियोक्लोआ परटिसा– हेलेन्डिया लेटीब्रोसा प्रकार (Bothriochlorapertusa-Heylandia latebrosa type)–** मध्य प्रदेश के पहाड़ी स्थानों के ढालू स्थानों की मिट्टी भूरी चाक युक्त तथा ग्रेवल लोम प्रकार की होती है। ऐसे स्थानों पर घास स्थलों की स्थापना की गई है जहां पर विशेष प्रकार की घासों की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं, जैसे- इन्डीगोफोरा, एन्ड्रोपोगोन पुमिलस, डाइकेन्थियम, मेनीसुरिस ग्रेनूलेरिस, सिटेरिया ग्लोइका आदि।

5. **थिमेडा कोडेटा– एलिसीकार्पस प्रकार (Themeda caudata- Alysicarpus type)–** मध्य प्रदेश में अनेक स्थानों पर मिडोज पाये जाते हैं, यहाँ की मिट्टी गहरे काले रंग की क्ले (clay) होती है। इन स्थानों पर विभिन्न प्रकार के घास स्थल स्थापित किये गये है। जिनमें विशेष प्रकार की घासों की अनेक जातियाँ पायी जाती हैं, जैसे– एम्फिलोपिस, एटीलोसिया प्लेटीकार्पा, सिम्ब्रोपोगोन मार्टिनी, सेन्क्रम सिलिऐरिस, एपलूडा एरिस्टेटा, एलीसीकार्पस, ट्रेगस रेसीमोसस, थमेडा कॉर्डेटा आदि।

6. **आइसीलेना एन्थीफोरोइडिस–एलाइसीकार्पस प्रकार (Isellema anthephoroides - Alysicarpus type)–** प्रायः यह देखा गया है कि मध्य प्रदेश के कुछ चरागाहों में आग लग जाने के कारण कुछ समय तक उपयोगी नहीं रहते हैं। अतः इन स्थानों पर विभिन्न प्रकार के घास स्थल विकसित किये गये हैं जिनमें अनेक प्रकार की घासों की विभिन्न जातियाँ पायी जाती हैं, जैसे आइसीलेमा, एन्थोफोरोइडिस, ब्रोथ्रीक्लोआ पर्टुसा, केशिया पुमिला, एलाइसीकार्पस साइनोडोन डेक्टाईलोन आदि।

7. **डाइकेन्थियम एन्नुलेटम–डेस्मोडियम प्रकार (Dichanthium annulatum Desmodium type)–** मध्य प्रदेश के अनेक स्थानों पर छायादार घने जंगल पाये जाते हैं। जहां पर अनेक चरागाह विकसित किये गये हैं। इन चरागाहों में घास स्थलों का निर्माण किया गया है। जिनमें काले रंग की क्ले मिट्टी पायी जाती है। इस मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ नाइट्रेट्स तथा कार्बोनेट्स प्रचुर मात्रा में उपस्थित होते हैं। ऐसे घास स्थलों में घासों की विभिन्न प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं, जैसे– ब्रोथ्रिओक्लोआ परटुसा, क्लाइटोरिया, डाइकेन्थियम एनुलेटम, केसिया टोरा, केशिया पुमिली, इण्डिगोफेरा ग्लेण्डलोसा, डेस्मोडियम, सेटेरिया ग्लोइका आदि।

8. **हिटरोपोगोन कन्टोर्टस–इन्डीगाफेरा प्रकार (Heteropogon contortus Indigofera type)–** मध्य प्रदेश के अनेक स्थानों पर भूरी (brown) रेतीली, लोम मिट्टी पायी जाती है। ऐसे स्थानों पर घास स्थलों का निर्माण किया जाता है, जिनमें घासों की

विभिन्न जातियाँ उगती हुई पायी जाती हैं जैसे– हिटरोपोगोन कन्टार्टस, फेसियोलस ट्राईलोबस, इण्डिगोफेरा, एन्ड्रोपोगोन पुमिलस आदि।

इन विभिन्न प्रकार के घास– स्थलों की लगाई गई घासों की जातियाँ बहुत आर्थिक महत्व की होती हैं। जिनसे पशुओं के लिये चारा, विभिन्न उद्योगों के लिये तेल आदि प्राप्त किये जाते हैं।

प्रश्न–20. मध्य प्रदेश के राष्ट्रीय उद्यानों के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

[सागर 2007,10 उज्जैन 2015]

उत्तर– मध्य प्रदेश में राष्ट्रीय उद्यानों का विकास (Development of National Parks in M.P.)–

1. मध्य प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर विशिष्ट प्रकार के वन्य प्राणी, जैसे– सफेद हाथी, बारहसिंघा आदि पाये जाते थे, किन्तु बदलते हुये वातावरण के साथ–साथ इन वन्य प्राणियों की संख्या में भी कमी आने लगी। अतः वैज्ञानिकों का विचार था कि प्राकृतिक तन्त्र को सुरक्षित रखने के लिये राष्ट्रीय उद्यानों का निर्माण किया जाये जिसमें वन्य जीवन का संरक्षण हो सके। इसके लिये सर्वप्रथम सन् 1950 में कान्हा राष्ट्रीय उद्यान की स्थापना की गई जिसमें बारह सिंघा को सुरक्षित रखा गया। धीरे–धीरे सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ जिसके फलस्वरूप म. प्र. एवं छत्तीसगढ़ राज्य में सन् 1979 से 1900 तक अनेक राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या में वृद्धि हुई जिसको सारिणी में निम्न प्रकार दर्शाया गया है–

सारिणी

संख्या	क्षेत्रफल वर्ग किमी	वर्ष
3	1201 किमी	1979
3	2011 किमी	1980
6	3667	1981
9	6181	1982
11	6283.56	1983 से 88
11	6283.56	1989 से 90

2. मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ राज्य के 3.7% क्षेत्र में राष्ट्रीय उद्यान हैं जिनका क्षेत्रफल 6283.56 वर्ग किमी है जिनका और विकास होना चाहिये।
3. छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर जिले की घनी आबादी में वन्य प्राणी संरक्षित क्षेत्र स्थित है। माण्डला का एक राष्ट्रीय उद्यान पादप जीवाश्मों के लिये प्रसिद्ध है तथा दूसरा माण्डला जिले में स्थित कान्हा का बायोस्फियर रिजर्व प्रसिद्ध है।
4. म. प्र. एवं छत्तीसगढ़ राज्य में कई स्थानों पर वन्य प्राणियों के संरक्षण के साथ–साथ संरक्षित क्षेत्रों में जैवीय तथा अजैवीय घटकों के संरक्षण हेतु प्रयास किये गये हैं जिनके लिये राष्ट्रीय उद्यानों का ही चुनाव किया गया है।
5. छत्तीसगढ़ प्रदेश का इन्द्रावती राष्ट्रीय उद्यान, जिला बस्तर बहुत बड़ा एवं महत्वपूर्ण है। इस उद्यान में सबसे अधिक पादप जातियाँ पायी जाती है और इसके बाहर वाला क्षेत्र कान्हा के बारहसिंघों तथा जंगली भैंसों का आश्रय स्थल कहलाता है।

6. प्राकृतिक एवं एतिहासिक दृष्टिकोण से बांधवगढ़ का राष्ट्रीय उद्यान सुविख्यात है जिसमें शेर (Lion) तथा अन्य वन्य प्राणी पाये जाते हैं । यह स्थान विश्व के प्रसिद्ध सफेद शेर (white lion) की जन्म स्थली कहलाता है।
7. सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान, पंचमणी अत्यन्त आकर्षक है जो सदाबहार वनों (evergreen forests) के बीच स्थित हैं। इन वनों में साँभर, तेंदुयें आदि वन्य प्राणी पाये जाते हैं।
8. कॉगोर का राष्ट्रीय उद्यान भी अपनी अलग छटा बिखेरता है जिसमें सागौन (teak) तथा साल (sal) के वृक्ष साथ-साथ लगे हुये हैं। इस उद्यान में तीरथगढ़ का अत्यन्त सुन्दर झरना है तथा आकर्षक गुफायें हैं।
9. भोपाल का राष्ट्रीय उद्यान भी प्रकृति की देन है जिसका विकास किया जा रहा है। इस उद्यान का प्रमुख उद्देश्य वन्य प्राणियों का संरक्षण तथा विभिन्न प्रकार के शिक्षण कार्य तथा मानव के अन्दर प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करना है।
10. जिला सीधी का संजय राष्ट्रीय उद्यान म. प्र. में सबसे बड़ा है जो साल वन (Salt forest) के नाम से प्रसिद्ध है।
11. पेंज राष्ट्रीय उद्यान सिवनी, छिन्दवाड़ा की स्थापना सन् 1983 में हुई यह सागौन वन के नाम से मशहूर है जो बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है।
12. राष्ट्रीय जीवाष्म उद्यान माण्डला जिले में स्थित है। यहां पर पाये गये पादप जातियों (species) के जीवाष्म आज भी असम तथा पश्चिमी घाट के वनों में पाये जाते हैं।

प्रश्न–21. निम्नलिखित को समझाइये–

(a) राष्ट्रीय उद्यान (b) अभ्यारण्य (c) बायोस्फियर रिजर्व।

उत्तर– (a) राष्ट्रीय उद्यान (National Parks)– ये बड़े-बड़े क्षेत्र होते हैं। यहाँ पर पौधे एवं जीव-जन्तुओं को मानव प्रबंधन के अन्तर्गत संरक्षण प्रदान किया जाता है।

IUCN की एक सभा ने सन् 1969 में नई दिल्ली में इसे इस प्रकार परिभाषित किया है– "एक राष्ट्रीय उद्यान ऐसा बड़ा क्षेत्र होता है कि–

(i) जिसमें पौधों एवं जन्तुओं की विभिन्न प्रजातियों के आवास के लिये एक या एक से अधिक पारिस्थिक तंत्र हो जो कि प्राकृतिक रूप से मानव विघटनकारी कार्यों एवं अतिक्रमण से नष्ट नहीं हुये हैं अथवा जिसमें अत्यन्त सुन्दर एवं मनोरंजक प्राकृतिक दृश्य हों।
(ii) जिसमें देश के महान व्यक्तियों ने अतिक्रमण को रोकने के लिये पारिस्थितिक जियोमारफोलोजिकल कारणों से इनका रख-रखाव किया हो।
(iii) जहाँ पर्यटकों के लिये उनकी विशेष परिस्थितियों जैसे- शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं आचार-विचार के उद्देश्यों को पूरा करने का प्रबंधन हो।"

भारत के कुछ मुख्य राष्ट्रीय उद्यान– भारत में अनेक राष्ट्रीय उद्यान स्थापित किये जा चुके हैं तथा कुछ राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना योजना जारी है। अतः भारत के कुछ भारतीय राष्ट्रीय उद्यान निम्नलिखित हैं–

(1) काजीरंगा राष्ट्रीय पार्क (Kaziranga National Park)– यह आसाम क्षेत्र में स्थित है तथा इस पार्क की स्थापना राइनोसिरॉस के संरक्षण के लिये की गयी है। यहाँ इनके प्रजनन के लिये विशेष व्यवस्था की गयी है जिसके परिणामस्वरूप पिछले 10 वर्षों में आसाम में इनकी संख्या बढ़ गयी है।

(2) कान्हा राष्ट्रीय पार्क (Kanha National Park)– इसकी स्थापना मध्य प्रदेश में की गई है। इस पार्क में बाघों को संरक्षण प्रदान किया जाता है। इसलिये यह पार्क बाघ संरक्षण पार्क के रूप में प्रसिद्ध है। इस पार्क को दो क्षेत्रों में विखण्डित किया गया है, कोर क्षेत्र व बफर क्षेत्र। कोर क्षेत्र का क्षेत्रफल 940 वर्ग कि.मी. है। यह पार्क के केन्द्रीय भाग में स्थित है जबकि बफर क्षेत्र कोर क्षेत्र के चारों ओर स्थित है व इसका क्षेत्रफल 1005 वर्ग कि.मी. है। इन क्षेत्रों में जानवरों की चराई व अन्य मानव गतिविधियों पर पूरी तरह से प्रतिबंध लगा दिया गया है।

कान्हा राष्ट्रीय उद्यान में वन्य प्राणी– कान्हा राष्ट्रीय उद्यान में बाघ, गुलबाघ,भालू, चीतल, साँभर, बारहसिंगा, कृष्णमृग, नीलगाय, लोमड़ी, जंगली सुअर, जंगली कुत्ता, सियार, भेड़िया, लकड़बग्धा आदि मिलते हैं। कान्हा का पक्षी संसार भी समृद्ध है। यहाँ राष्ट्रीय पक्षी मोर के साथ-साथ लगभग 260 प्रकार के पक्षी मिलते हैं। रेटल, लोमड़ी, जंगली बिल्ली, सल्लू साँप, गोह के अतिरिक्त अनेक किस्म के साँप पाये जाते हैं।

(3) कार्बेट राष्ट्रीय पार्क (Corbett National Park)– इस पार्क की स्थापना उत्तर प्रदेश में की गयी है तथा यह पार्क विभिन्न प्रकार के वन्य जीव जैसे- हाथी, बाघ, भेड़िया व तेंदुआ आदि के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध है।

(4) कांगेर राष्ट्रीय पार्क (Kanger National Park)– इस पार्क की स्थापना छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले में की गई है। यह पार्क 200 वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल में स्थित है। यह पार्क बाघ, चीतल, तेंदुआ व साँभर आदि वन्य-जीवों के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध है।

(5) गिर राष्ट्रीय पार्क (Gir National Park)– इसकी स्थापना गुजरात में की गई है। यह पार्क विशेष रूप से एशियाई सिंह के संरक्षण के लिये स्थापित किया गया है। पूर्व में सिंह पूरे मध्य एवं उत्तर भारत में पाये जाते थे, किन्तु अब उन्हें इसी पार्क में संरक्षित रखा गया है।

(6) इन्द्रावती राष्ट्रीय पार्क (Indravati National Park)– इस पार्क की स्थापना छत्तीसगढ़ राज्य के बस्तर जिले में की गई है। यह पार्क 1258 वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल में फैला हुआ है। यह पार्क तेंदुआ, जंगली भैंसा, बाघ, बारहसिंगा आदि वन्य जीवों के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध है। इसलिये 1982 में इसे टाइगर संरक्षण केन्द्र (Tiger Reserve) घोषित किया गया है। अतः इस पार्क में इन सब प्रयासों के परिणामस्वरूप वन्य-जीवों की संख्या में वृद्धि हुई है।

(7) बान्धवगढ़ राष्ट्रीय पार्क (Bandhavgarh National Park)– इस पार्क की स्थापना मध्य प्रदेश के शहडोल जिले में की गई है एवं यह पार्क 104 वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल में फैला हुआ है। यह पार्क अनेक वन्य-जीव जैसे- सांभर, गौर, गीदड़, चौसिंघा, हायना व नीलगाय आदि के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध है। विश्व में पाये जाने वाले सफेद बाघ की खोज सर्वप्रथम इसी पार्क में की गई थी।

(8) संजय राष्ट्रीय पार्क (Sanjay National Park)– इस पार्क की स्थापना छत्तीसगढ़ राज्य के सरगुजा जिले में की गई है एवं यह पार्क 1938 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में स्थित है। इस पार्क में अनेक वन्य-जीवों जैसे- चीतल, तेंदुआ व बाघ तथा इसके अतिरिक्त अन्य वन्य-जीव जैसे- बारहसिंघा, बाघ आदि को भी विशेष संरक्षण प्रदान किया जाता है।

(9) राजाजी पार्क (Rajaji Park)– इस पार्क की स्थापना उत्तरांचल के पाटलीडन (Patliden) के पास की गई है। यह पार्क 99.97 वर्ग मील क्षेत्र में स्थित है। इस पार्क को हेली पार्क के नाम से भी जाना जाता है। इस पार्क में वन्य-जीवों व उनके बच्चों को संरक्षण प्रदान करने के लिये विशेष प्रकार की प्रबंधन व्यवस्था बनाई गई है।

(10) **चमराज नगर राष्ट्रीय पार्क (Chamaraj Nagar National Park)**– इसकी स्थापना मैसूर के जंगलों में की गई है। इस पार्क की स्थापना मुख्यतः जंगली हाथियों को संरक्षण प्रदान करने के लिये की गई है। इसलिये इस क्षेत्र में हाथियों की संख्या काफी अधिक पायी जाती है।

भारत में राष्ट्रीय उद्यानों की स्थिति (Status of National Park in India)– लगभग 50 वर्ष पूर्व देश में केवल 10 राष्ट्रीय उद्यान थे, जिनकी संख्या अब सन् 1989 में बढ़कर 66 हो गई है। अतः भारत में विभिन्न राष्ट्रीय पार्कों की संख्या तथा क्षेत्रफल अलग-अलग राज्यों में निम्नानुसार है–

राज्यवार राष्ट्रीय पार्कों की संख्या एवं क्षेत्रफल

(Statewise No. of National Park and their area in India)

क्रमांक	राज्य	राष्ट्रीय पार्क की संख्या	क्षेत्रफल (किमी)
1	आन्ध्र प्रदेश	–	–
2.	अण्डमान निकोबार	6	361.57
3.	अरुणाचल प्रदेश	2	2307.82
4.	आसाम	2	820.00
5.	बिहार (अविभाजित)	1	979.27
6.	गोवा, दमन और दीव	1	107.00
7.	गुजरात	4	580.45
8.	हरियाणा	–	–
9.	जम्मू-कश्मीर	4	3810.07
10.	हिमाचल-प्रदेश	2	2411.00
11.	कर्नाटक	5	2400.38
12.	केरल	3	963.51
13.	मध्यप्रदेश (अविभाजित)	11	6283.56
14.	महाराष्ट्र	15	2173.33
15.	मणिपुर	2	81.30
16.	मेघालय	2	288.01
17.	मिजोरम	–	–

(b) अभ्यारण्य (Sanctuaries)– विभिन्न प्रकार के वन्य-जीव एवं सघन वृक्षों की कई प्रजातियों के महत्व को समझते हुये सरकार द्वारा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इनको संरक्षण प्रदान किये जाने का प्रबंध किया जा रहा है। भारत सरकार द्वारा वन्य-जीवों का संरक्षण करने के लिये सरकारी स्तर पर कई कानूनी नियम भी बनाये गये हैं। यदि इन नियमों का प्रत्येक मनुष्य ईमानदारी से पालन करे तो लुप्तप्राय जातियों को विलुप्त होने से बचाया जा सकता है। सन् 1927 में भारत सरकार द्वारा वन्य संरक्षण अधिनियम XVI लागू किया गया। इस नियम के अन्तर्गत शिकार नियंत्रण की व्यवस्था की गई है। इसके बाद सन् 1952 में भारत सरकार द्वारा 'वन्य-जीव मण्डल' की स्थापना की गई, इस संस्था द्वारा प्रतिवर्ष राष्ट्रीय स्तर पर वन्य-जीव संरक्षण सप्ताह मनाया जाता है। इसके पश्चात् सन् 1972 में नये वन्य-जीव संरक्षण अधिनियम लागू किये गये, इन अधिनियमों के अनुसार

लुप्तप्राय या संकटापन्न जातियों को संरक्षित घोषित कर दिया जाता है तथा संरक्षित जन्तु या पादप जातियों को किसी भी अवस्था में पकड़ने और उनका शिकार करने वालों के लिये सजा का प्रबंधन किया गया है।

अतः भारत सरकार के वन तथा पर्यावरण मंत्रालय की देख-रेख में वनस्पति एवं जन्तुओं की प्रजातियों को विलुप्त होने से बचाने के लिये राष्ट्रीय उद्यान, अभ्यारण्य एवं विभिन्न जन्तु उद्यानों की स्थापना की जा रही है। भारत में कुल 89 राष्ट्रीय उद्यान व 489 अभ्यारण्यों के अन्तर्गत कई वन्य-जीवों को संरक्षित किया जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे वन्य-जीव जिनकी संख्या देश में लगातार घटती जा रही है, उनके लिये प्रोजेक्ट स्कीमें तैयार की जा रही हैं, जिसके अन्तर्गत चीता, हाथी, गेंडा आदि को प्रमुख संरक्षण प्रदान किया जा रहा है।

भारत के मुख्य अभ्यारण्य (Important Sanctuaries of India)– भारत के कुछ प्रमुख अभ्यारण्य निम्नलिखित हैं–

(1) **काजीरंगा (Kaziranga)**– यह आसाम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे 40 कि.मी. क्षेत्र में स्थित है। एक सींग वाला गेण्डा यहाँ का प्रमुख वन्य-जीव है।

(2) **कान्हा शरणस्थल (Kanha Sanctuary)**– यह मध्य प्रदेश में है। यह चीता, शेर, बाघ व जंगली कुत्तों तथा हिरण का शरणास्थल है।

(3) **गिर वन (Gir Forest)**– यह गुजरात में 500 वर्गमील क्षेत्र में स्थिल है। यह मुख्यतः भारतीय सिंहों का शरणस्थल है किन्तु इसके अलावा इसमें चिंकारा, चीतल, सांभर व नील गायों को भी शरण प्रदान की जाती है।

(4) **मनास शरणस्थल (Manas Sanctuary)**– इसे उत्तरी कामरूप शरणस्थल के नाम से भी जाना जाता है। यह आसाम में हिमालय पर्वत की निचली पहाड़ियों में स्थित है तथा इसमें हाथी, जंगली भैंस, बाघ, बतख व पैलिकन नामक वन्य-जीवों को शरण प्रदान की जाती है।

(5) **बांदीपुर (Bandipur)– यह कर्नाटक में है तथा यहाँ पर लंगूर, जंगली हाथी, जंगली बाघ, बिसन (Bison), बाघ व सेही आदि वन्य-जीवों को शरण प्रदान की जाती है।**

(6) **अन्नामलाई शरणस्थल (Annamalai Sanctuary)– यह तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले में स्थित है तथा यह विभिन्न प्रकार के चीतल, साँभर, चीता, साँड़, सेही, लंगूर, काँकड आदि के शरण-स्थल के रूप में प्रसिद्ध है।**

(7) **पेरियार शरणस्थल (Periyar Sanctuary)– यह केरल में 1900 फीट ऊँचाई पर एक झील के चारों तरफ स्थिति है। यह साँभर, कांकड, साँड, हाथी, जंगली सुअर, जंगली कुत्ते व बाघ आदि शरणार्थियों के शरणस्थल के रूप में प्रसिद्ध है।**

उपर्युक्त शरणस्थलों के अतिरिक्त हमारे देश में कुछ प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान भी हैं, जो निम्नानुसार हैं–

(1) **माधव राष्ट्रीय उद्यान (Madhav National Park)**– यह ग्वालियर के पास शिवपुरी जिले में एक झील के किनारे स्थित है। इस उद्यान में चीतल, सांभर, बाघ आदि वन्य-जीवों को प्रमुख रूप से संरक्षण प्रदान किया जाता है।

(2) जिम कार्बेट उद्यान (Jim Carbet Park)– यह पार्क उत्तर प्रदेश में नैनीताल के पास स्थित है। इस पार्क की स्थापना मुख्य रूप से सिंहों को संरक्षण प्रदान करने के लिये की गई है।

(3) बेतला राष्ट्रीय उद्यान (Betla National Park)– यह बिहार के पलामू जिले में स्थित है तथा इस पार्क में हाथी व बाघों को विशेष रूप से संरक्षण प्रदान किया जाता है।

(4) गुण्डी डीयर उद्यान (Gundy Deer Park)– यह तमिलनाडु में मद्रास के पास स्थित है। इस पार्क की स्थापना चीतल, काले एवं एल्विनों हिरण के लिये की गई है।

(5) डचिगम राष्ट्रीय उद्यान (Dachigam National Park)– यह पार्क कश्मीर में स्थित है तथा यह पार्क काले भालू, एण्टीलोप, कस्तूरी मृग, चीता, हिमालय टहर, कश्मीरी बारहसिंगा व जंगली बकरी के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध है।

(c) बायोस्फीयर रिजर्व (Biosphere Reserve)– बायोस्फियर रिजर्व ऐसे क्षेत्र होते हैं जिसके अन्तर्गत प्राकृतिक आवासों तथा उनमें पाये जाने वाले पौधों एवं जीव–जन्तुओं की जातियों का संरक्षण किया जाता है। बायोस्फियर रिजर्व प्रोग्राम को यूनेस्को द्वारा बायोस्फियर प्रारक्षण कार्य के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया है, इस कार्यक्रम के निम्नलिखित उद्देश्य है–

(1) प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों एवं जैविक संसाधनों का संरक्षण।
(2) जैविक विविधता व आनुवंशिक विविधता का संरक्षण।
(3) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जैविक शोध एवं अध्ययन के क्षेत्र निर्धारित करना तथा संरक्षण से संबंधित प्रशिक्षण प्रदान करना।
(4) भूमि संसाधन विकास एवं पर्यावरण संरक्षण के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना।
(5) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करना।

अतः इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये बायोस्फियर रिजर्व प्रोग्राम के अन्तर्गत विश्व में विभिन्न राष्ट्रीय उद्यानों, जीवीय प्रारक्षणों एवं अन्य रक्षित क्षेत्रों की स्थापना की जा रही है।

बायोस्फियर रिजर्व क्षेत्र (Zone of Biosphere Reserves)– बायोस्फियर रिजर्व को चार क्षेत्रों में बाँटा गया है–

(1) **कोर क्षेत्र (Core Area)–** बायोस्फियर रिजर्व का यह क्षेत्र प्राकृतिक एवं कम से कम प्रभावित क्षेत्र है।

(2) **पर्यटन क्षेत्र (Tourism Area)–** इसके अन्तर्गत ऐसे क्षेत्र शामिल किये गये हैं, जिन्हें जनजातियाँ की खेती हेतु सुरक्षित रखा गया है।

(3) **वानिकी क्षेत्र (Forestry Area)–** इसके अन्तर्गत ऐसे चुने हुये निर्जन (Felling area) एवं मानव निर्मित क्षेत्र आते हैं, जहाँ के वनों को काट दिया गया था।

(4) **कृषि क्षेत्र (Agriculture area)–** इसके अन्तर्गत भी ऐसे क्षेत्र शामिल किये गये हैं, जिन्हें भी जनजातियों की खेती हेतु सुरक्षित रखा गया है।

(5) **पुनः स्थापन क्षेत्र (Reconstruction Zone)–** इसके अन्तर्गत ऐसे क्षेत्र आते हैं, जिन्हें फिर से प्राकृतिक बनाया गया है।

भारत के प्रमुख बायोस्फियर रिजर्व (Important Biosphere reserve of India)– भारत सरकार के वन तथा पर्यावरण मंत्रालय ने अभी तक 13 बायोस्फियर रिजर्व की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त अन्य बायोस्फियर रिजर्व्स की स्थापना का कार्य भी प्रगति पर है।

क्रमांक	बायोस्पियर रिजर्व	राज्य
1.	कान्हा (Kanha)	मध्य प्रदेश
2.	उत्तराखण्ड (फूलों की घाटी)	उत्तर प्रदेश
3.	सुन्दर वन (Sunderban)	पश्चिमी बंगाल
4.	मनास (Manas)	आसाम
5.	नन्दादेवी (Nandadevi)	उत्तर प्रदेश
6.	काजीरंगा (Kajiranga)	आसाम
7.	नीलगिरी (Nilgiris)	कर्नाटक, केरल एवं तमिलनाडु
8.	नामडाफा (Namdapha)	अरुणाचल प्रदेश
9.	थार मरुस्थल (Thar Desert)	राजस्थान
10.	नाकरेक (टुरा रेंज) (Nokrek Tura Range)	मेघालय
11.	कच्छ के छोटे रण (Rann)	गुजरात
12.	अण्डमान के उत्तरी द्वीप (North Island of Andaman)	अण्डमान एवं निकोबार
13.	मनार का गल्फ (Gulf of Manar)	तमिलनाडु

इकाई-5

लघु एवं दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. वानिकी से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिये।

अथवा

वानिकी की परिभाषा, प्रकार, लाभ एवं कमियों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– वानिकी– वानिकी एक विज्ञान है जो कृषि और पर्यावरण संरक्षण से जुड़ा है। यह जंगलों में फसलों को बनाए रखने और वन शोषण में सुधार का प्रभारी है।

वानिकी की परिभाषा– यह वह गतिविधि है जो वनों की खेती और रखरखाव के लिए जिम्मेदार है। इसका मुख्य उद्देश्य वनों को लगाकर प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करना, पर्यावरण की गुणवत्ता में सुधार करना और पशुधन फार्मों का उत्पादन और रखरखाव करना है। हमारे देश में, वानिकी ने प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र को नष्ट किए बिना लकड़ी और कॉर्क का एक बहुत ही महत्वपूर्ण विकास किया है।

वानिकी में शामिल गतिविधियों में, हम वन–वृक्ष, फसलों का रोपण, रखरखाव और विकास पाते हैं जो जंगलों और पहाड़ों से फैली हुई हैं। व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, इसे कृषि के साथ–साथ एक पारिवारिक विज्ञान माना जाता है, हालांकि इसमें कुछ अन्तर है। पहला और सबसे बड़ा अन्तर उत्पादन पद्धति का है। कृषि को कुछ ही महीनों में फलों और फसलों के बड़े पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता होती है, जबकि वानिकी को परिणाम देखने के लिए दशकों की आवश्यकता होती है।

वानिकी के प्रकार– क्षेत्र के आधार पर वानिकी के प्रकार निम्नलिखित हैं

(1) गहन वानिकी– यह वह है जो खेती किए जा रहे क्षेत्र की अधिक उत्पादकता सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न तकनीकों का उपयोग करता है। यानी हम पर्यावरण की रक्षा करते हुए अधिक से अधिक संसाधनों का उत्पादन करने का प्रयास करते हैं।

(2) व्यापक वानिकी– यह उन जगहों पर कुछ गतिविधियों को करने का प्रभारी है जहाँ अन्य आर्थिक और सामाजिक गतिविधियाँ शामिल हैं। इन गतिविधियों का अभ्यास करने का मुख्य उद्देश्य जनसंख्या को उन क्षेत्रों मे पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति जागरूक करना है जहाँ यह उगाया जाता है। इसके अलावा, यह आबादी को पर्यटन और पर्यावरण शिक्षा जैसी कुछ सेवाएँ भी प्रदान करता है। वनों के उत्पादन और रखरखाव को स्थायी तरीके से और समय के साथ कार्य करने के लिए कारगर है।

वानिकी के लाभ–

(1) ऐसा पाया गया है कि जिन क्षेत्रों में शायद ही कोई पेड़ हैं, वहाँ वनरोपण या वनरोपण मुख्य लाभों में से एक है।
(2) इसका उपयोग रेगिस्तानी क्षेत्रों को पुनर्स्थापित करने के लिए भी किया जाता है।
(3) यह पौधों और जानवरों की कई प्रजातियों के जीवन के स्रोत का हिस्सा है। इस तरह यह एक उत्कृष्ट और स्वस्थ पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करते हैं।
(4) यह पौधों में प्रकाश संश्लेषण के माध्यम से हवा को बेहतर ढंग से शुद्ध कर सकता है, जिसके कई पर्यावरणीय लाभ हैं।
(5) यह नदियों को भी खिलाती है और विभिन्न क्षेत्रों के लिए पीने का पानी उपलब्ध कराती है।

कमियाँ–

(1) ये कमियाँ मुख्य रूप से तब दिखाई देती हैं जब वन प्रबंधन में कमी होती है।
(2) यदि ठीक से प्रबंधित नहीं किया गया, तो पर्यावरण को नुकसान पहुँचाना आसान है और पौधों और जानवरों की प्रजातियों को खतरे में डालना आसान है।
(3) **खराब प्रबंधन के परिणामस्वरूप मनुष्य प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र में भारी असंतुलन पैदा कर सकता है। उदाहरण के लिए, अत्यधिक कटाई, असंतुलित और/या आक्रामक प्रजातियों के रोपण आदि के माध्यम से पारिस्थितिकी तंत्र को नुकसान पहुँचा सकता है।**

इस गतिविधि से उत्पन्न होने वाले सभी नुकसान तब होते हैं जब प्रबंधन सही तरीके से नहीं किया जाता है। जब तक इसे संतुलित तरीके से किया जाता है, यह केवल लाभ ही लाएगा। इसका उपयोग सबसे खराब क्षेत्रों में इसे सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय उपयोग देने के लिए किया जा सकता है।

प्रश्न–2. सामाजिक वानिकी पर निबंध लिखिये।

अथवा

सामाजिक वानिकी क्या है? इस योजना के अन्तर्गत की जाने वाली प्रचलन पद्धतियों व उनके लाभों का वर्णन कीजिये। [इन्दौर 1999, सागर 1995]

अथवा

सामाजिक वानिकी क्या है? इसके प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन कीजिये। [सागर 1997]

अथवा

सामाजिक वानिकी के उपयोगों एवं उद्देश्यों पर प्रकाश डालिये। [रायपुर 1995]

उत्तर–भारतवर्ष के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 23% भाग वनाच्छादित है। वनों का यह प्रतिशत क्षेत्रफल के हिसाब से अत्यन्त कम है। वनों की लगातार कटाई के कारण वनस्पतियों के कम होने अथवा पूरी तरह समाप्त होने का खतरा बढ़ गया है। जिसके कारण मिट्टी का कटना, सूखा, बाढ़, फसलों की उपज में कमी आना आदि समस्यायें आ रही हैं। अतः राष्ट्रीय कमीशन ने उपरोक्त परेशानियों से बचने के लिये सामाजिक वानिकी नामक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है।

सामाजिक वानिकी एक अवधारणा है, कार्यक्रम है तथा एक दूत–कर्म (mission) है, जिसका उद्देश्य लोगों के लिये (विशेषतः ग्रामीणों के लिये) पारिस्थितिक (Ecological), सामाजिक (Social) तथा आर्थिक (Economical) सुरक्षा प्रदान करना है। इसका मुख्य लक्ष्य एक ऐसे मिश्रित उत्पादन तन्त्र को विकसित करना है जिसमें मनुष्य की रोटी, कपड़ा और मकान के महत्व को प्रतिपादित किया है।

सामाजिक वानिकी के कार्यक्रम– सामाजिक वानिकी के अन्तर्गत निम्न पद्धतियां सम्मिलित की गई हैं–

1. रक्षक मेखला (shelter belts) का वृक्षारोपण।
2. नहरों, सड़कों तथा रेलवे लाइनों के किनारे–किनारे वृक्षारोपण।
3. वृक्षों को लगाकर मृदा अपरदन का नियंत्रण।
4. शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्रों में वायु के शुद्धीकरण, सुन्दरता तथा शोर प्रदूषण के नियंत्रण के लिये वृक्षारोपण।
5. वास स्थानों एवं मैदानों के चारों ओर वृक्षारोपण एवं वनाच्छादों का विकास।
6. शुष्क कृषि भूमि में वायु विच्छेदकों (wind breaks) को उगाना।
7. गाँव की अनुपजाऊ भूमि में वृक्षारोपण करना।
8. विश्राम तथा मनोरंजन के लिये गाँव के आस–पास उद्यानों को लगाना।
9. जलमग्न क्षेत्रों की भूमि उद्धार के लिये वृक्षारोपण।
10. सिंचाई योजना के कमाण्ड क्षेत्रों का वृक्षारोपण।
11. पंक्तिबद्ध वृक्षारोपण।
12. कृषित फसलों के साथ वृक्षों का लगाना।
13. बेकार पड़ी सरकारी भूमि पर काष्ठ प्रदान करने वाले वृक्षों का रोपण।

सामाजिक वानिकी के उद्देश्य

1. ग्रामीण क्षेत्रों के लिये लकड़ी के स्थान पर गोबर के उपयोग की सलाह देना।
2. लकड़ी की आवश्यकता में कमी के उपायों को सुझाना।
3. चारे की उपलब्धता को बढ़ाना।
4. खेतों को हवा से बचाव हेतु कारगर उपायों को खोजना।
5. अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना।
6. बेरोजगारी को कम करना।
7. मृदा अपरदन को रोकना।
8. प्रदूषण में कमी लाना।
9. इमारती लकड़ी की आपूर्ति करना।
10. भूमि की नमी का संरक्षण।
11. बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना।
12. वर्षा में वृद्धि।

सड़क किनारे वृक्षारोपण– सड़कों के किनारे वृक्ष लगाने का मुख्य उद्देश्य यात्रियों को छाया मिलना था। परन्तु धीरे–धीरे इन पौधों का आर्थिक महत्व भी बढ़ता गया। सड़क के किनारे वृक्षारोपण का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. यात्रियों को छाया प्रदान करना।
2. आश्रय पट्टियों द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि, ईंधन की प्राप्ति।
3. पारिस्थितिक सन्तुलन स्थापित रखना।
4. सौन्दर्य एवं प्राकृतिक दृश्यों में वृद्धि।
5. ध्वनि प्रदूषण को कम करना।
6. मिट्टी के बहाव को रोकना।

सामान्यतः वृक्षों के किनारे वृक्षारोपण करते समय सड़क के मध्य भाग से 8–10 मीटर की दूरी पर वृक्षों की दो–तीन कतारें लगानी चाहिये। सामान्यतः इन स्थानों पर चरण विरोधी जातियों का उपयोग करना चाहिये।

सड़क किनारे वृक्षारोपण हेतु पौधों का चुनाव– सड़क किनारे वृक्षारोपण हेतु पौधों का चुनाव निम्न बातों पर निर्भर करता है :–

1. उस स्थान की जलवायु, जैसे– ऊष्ण कटिबन्धीय उप–उष्ण कटिबन्धीय, शीतोष्ण और आर्कटिक।
2. मिट्टी के प्रकार।
3. वृक्षारोपण के उद्देश्य।
4. पौधों को नष्ट करने वाले कारकों के आधार पर।

जलवायु के अनुसार उपयोगी पौधे

1 उष्ण कटिबन्धीय तथा उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र (Tropical and sub tropical regions)– ऐसे क्षेत्रों में वृक्षारोपण हेतु निम्न पौधों का उपयोग किया जाता है–

बबूल (*Acacia nilotica*), सिरिस (*Albizzia bebbeck*), नीम (*Azadirecta indica*) शीशम (*Dulbergia sissoo*), यूकेलिप्टस (*Eucalyptus*), इमली (*Tamarindus, indica*), सागौन (*Tectona grandis*) आदि।

2. सब ट्रॉपिकल तथा टेम्परेट पहाड़ी क्षेत्र (Subtropical and Temperate hilly areas)– सीड्रस देवदारा (*Cedrus deodara*), पाइनस रॉक्सबर्गी (*Pinus roxburgii*), ऐसुलस इण्डिका (*Aesulus indica*), टूना सिटिएटा (*Toona citiata*), पापुलस जातियाँ (*Populus sp.*) आदि।

सुन्दरता हेतु लगाये जाने वाले पौधे

1. ट्रापिकल एवं सब ट्रॉपिकल क्षेत्र– केशिया फिस्टुला (Cassia fistula), टेसू (Butea monosperma), कचनार (Bauhinia Variegata) सराका इण्डिका (Saraca indica) आदि।

2. सब ट्रॉपिकल एवं टेम्परेट पहाड़ी क्षेत्र– मीलिया एजेडिरेक (melia azedirach), ऐस्कुलस असामिका (Aesculus assamica), ए. इण्डिका (A. indica), रॉबीनिया स्यूडोकैशिया (Robinia pseudocasia) आदि।

3. ऊसर आदि क्षेत्रों के लिये उपयोगी पौधे– टर्मिनेलिया अर्जुना (Terminalia arjuna), नीम (Azadirecta indica), ऐल्बीजिया लीबेक (Albizia lebbeck), ब्यूटिया मोनोस्पर्मा (Butea monosperma), यूकेलिप्टस रूडिस (Eukalyptus rudis), अंकेशिया नाइलोटिका (Acacia nilotica) आदि।

1. पानी में डूबे हुए क्षेत्रों के लिये **(Water logged areas)–** एकेसिया निलोटिका *(Acacia nilotica)*, अलबीजिया प्रोसेरा *(Albizia procera)*, ब्यूटिया मोनोस्पर्मा *(Butea monosperma)*, डलबर्जिया सिस्सु *(Dalbergia sisso)*, यूकेलिप्टस स्प. *(Eucalyptus sp.)*, पोंगेमिया पिन्नेटा *(Pongamia pinnata)*, सेलिक्स स्प. *(Salix sp.)*, साइजियम क्यूमिनी *(Sygygium cumini)*, टर्मीनेलिया अर्जुना *(Terminalia arjuna)* आदि

5. सूखा क्षेत्र **(Arid areas)** के लिए– एकेसिया निलोटिका *(Accacia nilotica)*, एल्बीजिया लेबेक *(Albizia lebbeck)*, केसिया सायमिया *(Cassia siamea)*, यूकेलिप्टस स्प. *(Eucalyptus sp.)* मीलिया स्प. *(Melia sp.)*, पोंगेमिया पिन्नेटा *(Pongamia pinnata)*, टेमेरिन्डस इण्डिका (इमली) *(tamarindus indica)*, प्रोसोपिस सिनीरेरिया *(Prosopis cineraria)*, परकिनसोनिया एकुलियेटा *(Perkinsonia aculeata)* आदि।

प्रश्न–3. कृषि वानिकी क्या है? इसकी प्रणालियों के बारे में लिखिये।

अथवा

विभिन्न कृषि वानिकी तंत्रों का वर्णन कीजिये तथा उनके महत्वों का उल्लेख कीजिये।

अथवा

कृषि वानिकी के महत्व को लिखिये।

अथवा

कृषि वानिकी के घटक पर टिप्पणी लिखिये। [उज्जैन 2019, इन्दौर 16,18]

अथवा

कृषि वानिकी के उद्देश्य पर टिप्पणी लिखिये। [जबलपुर 2019]

अथवा

तांग्या कृषि–प्रणाली पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– **कृषि वानिकी–** सामान्यतः कृषि वानिकी भूमि उपयोग तंत्र प्रणाली तथा उस तकनीक का सामूहिक नाम है जिससे काष्ठीय, बहुवर्षीय पौधे तथा फलदार पौधे आदि विशेष रूप से उसी प्रबंध इकाई का अंग हों जिसमें फसलें पशु के साथ–साथ व्यवस्थित हों। कृषि वानिकी के अन्तर्गत आर्थिक तथा जलवायुवीय दोनों ही प्रतिक्रियाएं होती हैं।

कृषि वानिकी को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है–

कृषिवन (फसल + वृक्ष)

कृषि बागवानी (फसल + फलदार वृक्ष)

कृषि बागवानी वन (फसल + फलदार वृक्ष + बहुउद्देशीय वृक्ष)

बागवानी चरागाह (फलदार वृक्ष + चरागाह + पशु)

कृषि वानिकी हेतु उपयोगी वृक्ष– कृषि वानिकी हेतु इस प्रकार के वृक्षों का चुनाव आवश्यक होता है जो फसलों के साथ सामंजस्य के रूप में किसानों को जलाने के लिए ईंधन, पशुओं को चारा, इमारती लकड़ी तथा फल आदि प्राप्त हो सकें। अतः निम्न वृक्षों को लगाने (उगाने) की सलाह दी गई है।

(1) पशुओं को चारे के लिये– इसके लिये ऐसे वृक्षों को उगाना चाहिये जिनकी पत्तियों का उपयोग पशुओं को चारे के रूप में किया जा सके। इस हेतु सिरिस (अल्बीजिया लेबेक) नीम (एजेडेरिक्टिका इण्डिका), झाऊ (केजुएराइना इक्वीटिसीफोलिया) करंज (पोंगेलिया पिन्नेटा) पलाश (ब्यूटिया मोनोस्पर्मा), ढेंचा (सेसबीनिया स्प.) सफेदा (यूकेलिप्टस), इमली (टेमेरिण्डस इण्डिका), बेर (जिजुफस स्प.) उगाना चाहिये।

(2) कृषि वानिकी के इमारती वृक्षों को भी लगाना चाहिये। इसके लिये स्थानीय आवश्यकता के अनुसार ही वृक्षारोपण करना चाहिये। इसके लिये सागौन (टेक्टोना ग्राण्डिस), बबूल (एकेसिया स्प.), देशी बाँस (बम्बूसा स्प.) लगाना चाहिये।

(3) जंगली फूलवाले वृक्ष कृषि वानिकी में लगाना आवश्यक होता है। इसके द्वारा किसान फालतू भूमि का उपयोग अपनी आय को बढ़ाने में कर सकते हैं। इसके लिये कटहल (आर्कीकार्चटहेटरो फाइलस), बेर (जिजुफस जिजूबा), आँवला (फाइलेन्थस एम्बलिका), सीताफल (एनोना स्क्वेमोसा) शहतूत (मोरस अल्वा), बेल (एइल माइमोलस), जामुन (यूजीनिया जेम्बोलाइना), खिन्नी (मोलिनकेरा हेस्केण्ड्रा) सेंजना या मुनगा (मोरिंगा) ऑलिफेरा, केंथ (फेरोनिया लिमोनिया) को लगाया जा सकता है।

कृषि वानिकी के घटक

1. **एग्री–सिल्वीकल्चर तन्त्र–** इसमें भूमि का उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि अधिक से अधिक कृषि तथा वन वृक्ष एवं फसलों का एक साथ उत्पादन हो सके।
2. **एग्रो–सिल्वो पास्टोरल प्रणाली–** इसमें भूमि का उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि कृषि एवं वानिकी फसलों के साथ–साथ पशुपालन हो सके।
3. **सिल्वी–पास्टोरल प्रणाली–** इसमें भूमि का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता है कि काष्ठ (wood) के उत्पादन के साथ–साथ पशुपालन भी हो सके।
4. **बहुउद्देश्यीय वन वृक्ष उत्पादन तन्त्र–** इसमें इस प्रकार के वन वृक्ष लगाये जाते हैं जिनसे काष्ठ के अलावा कई दूसरी जरूरतें भी पूरी हो सकें।

वृक्ष तथा खाद्य फसलों को लगाने की विधियाँ

1. वृक्षों को कृषि क्षेत्रों के किनारे–किनारे चारों तरफ लगाया जा सकता है।
2. वृक्षों और फसलों के पौधों को एक के बाद एक (एकान्तरित) पंक्ति में लगाना।
3. वृक्षों और फसलों को मिश्रित रूप में लगाना।

कृषि वानिकी के लिये पौधों का चयन– पौधों के चयन में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये–

1. वृक्ष किसानों के उपयोग से संबंधित हों।
2. वृक्ष वहां की जलवायु के अनुकूल हों।
3. पौधे तेजी से वृद्धि करने वाले तथा नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करने वाले हों।
4. आसपास स्थित उद्योगों के लिये कच्चा माल प्रदान कर सकें, ऐसे पौधों का चयन होना चाहिये।

कृषि वानिकी में उपयोग किये जाने वाले वृक्षों के उदाहरण–

वन वृक्ष	फसल/ घासें
Borassus flabellifer	Paddy
Acacia nilotica	Paddy, millets Maize
Albizzia lebbeck	Sunflower etc.
Dalberigia sissoo	
Eucalyptus globulus	Wheat, mustard
Anthocephalus cadamba	Potato, tobacco, beans etc.

कृषि वानिकी के लिये स्थानों का चयन– कृषि वानिकी के लिये निम्न में से कोई भी स्थान हो सकता है–

1. कृषि के लिये अयोग्य भूमि।
2. मवेशी के रहने वाले स्थान के आस–पास की भूमि।
3. कृषि फसलों के बीच की भूमि।
4. खेत की मेड़ें।

कृषि वानिकी के लाभ–

1. इसमें भूमि का अधिकाधिक उपयोग हो जाता है।
2. इससे मृदा में नमी बनी रहती है तथा फसलें अच्छी रहती हैं।
3. वृक्षारोपण से पेस्ट तथा रोग के कारण फसलों को होने वाली हानि की पूर्ति की जा सकती है।
4. इससे ईंधन के लिये लकड़ी प्राप्त होती है।
5. बड़े वृक्ष वायु की गति कम कर मृदा अपरदन को रोकते हैं।
6. पशुओं के लिये चारा उपलब्ध हो जाता है।

भारत में कृषि वानिकी– आजकल भारत में कृषि वानिकी या टोंग्या (Taungya) प्रणाली में वन भूमि 2–3 वर्षों के लिये वहां के किसानों को दे दी जाती है। जिससे वे वृक्षारोपण करते हैं। बाद में वृक्ष पंक्तियों के मध्य कृषि उपयोग वाली भूमि की नीलामी कर दी जाती है।

अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में कृषि वानिकी के अन्तर्गत *Pterocarpus dalbergioides* को मक्का तथा गन्ने के साथ पैदा किया गया है। आसाम में साल वृक्षों को धान के साथ उगाया गया है। पश्चिमी बंगाल में साल वृक्षों को दलदली भूमि में उगाने में सफलता प्राप्त हुई है। केरल में टेपियोका तथा धान के साथ यूकेलिप्टस तथा टीक पैदा किया गया है। इस प्रकार से कृषि वानिकी एक अत्यन्त सफल अवधारणा है। यह भारत की रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या को कुछ हद तक कम करने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

कृषि वानिकी के उद्देश्य– आधुनिक समय में कृषि वानिकी के अन्तर्गत फसलों के साथ स्थायी रूप से वृक्षों को लगाया जाता है। इससे किसानों को भोजन, ईंधन, चारा, रेशा आदि प्राप्त होता है। कृषि वानिकी के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) **जैव भार उत्पादन–** किसी भी जल विभाजन प्रबन्ध के इकाई क्षेत्र में निश्चित समय में अधिकतम जैव भार का उत्पादन कृषि वानिकी का प्राथमिक उद्देश्य है।

(2) **उत्पादन आधार का संरक्षण–** जल के द्वारा काफी मात्रा में मिट्टी की उपजाऊ परत बहकर बर्बाद हो जाती है। वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष 16 टन प्रति हेक्टर भूमि से मिट्टी पानी के द्वारा बहकर अन्यत्र चली जाती है। बंजर एवं बेकार भूमि को कृषि वानिकी के जल विभाजन प्रबन्ध के माध्यम से नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

(3) **मृदा उन्नतिकरण (Soil improvement)**– भूमि के उत्पादन आधार के संरक्षण के साथ–साथ कृषि वानिकी की विधियों के द्वारा जैसे–नाइट्रोजन स्थरीकरण भूमि में कार्बनिक खाद्यों को मिलाकर मिट्टी को और अधिक उपजाऊ बनाया जा सकता है।

(4) **कृषि आधारित लघु उद्योग–** कृषि वानिकी के जल–विभाजक प्रबन्ध के द्वारा कृषि पर आधारित अनेक उद्योग जैसे– कागज पल्प, औषधियाँ, रेशा, मुर्गीपालन, सुअर–पालन, डेरी–उद्योग, मधुमक्खी–पालन, मशरूम की खेती की जा सकती है। इससे किसानों का जीवन–स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है।

(5) **पारिस्थितिक सन्तुलन–** राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार पहाड़ी क्षेत्रों में 66% वन तथा मैदानी क्षेत्रों में 33% वन होने चाहिये। अतः वनों से समुचित लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से फालतू भूमि पर फसलों के साथ वृक्षारोपण करना चाहिये। इससे पारिस्थितिक सन्तुलन के बरकरार रखने में सहायता मिलेगी।

तांग्या कृषि–प्रणाली (Taungya Cultivation system)

इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापारिक वन वृक्षों को उगाया जाता है तथा वृक्षों के बीच में अस्थायी खेती का जाती है। इस प्रकार की खेती सबसे पहले उत्तरी बंगाल में की गयी थी और

वर्तमान में इसे उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, आंध प्रदेश, उड़ीसा तथा कर्नाटक राज्यों में अपनाया जा रहा है। इस प्रकार की खेती अनेक पदों में की जाती है, जैसे- खेत की तैयारी करना, वृक्षों को लगाना, कृषि फसलों को एक से तीन वर्ष तक उगे रहते देना आदि। किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में वृक्षों को लगाने से एक वर्ष पूर्व फसलों को उगाया जाता है। टीक के वृक्षों के साथ तांग्या पद्धति से खेती करने में अनेक लाभ हैं। तमिलनाडु व अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में आलू की फसल के साथ यूकेलिप्टस ग्लोब्युलस *(Eucalyptus globulus)* एकेसिया *(Acacia)* तथा चीड़ के वृक्ष लगाये जाते हैं। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश में मूंगफली व काजू की खेती एक साथ की जाती है।

भारत में तांग्या पद्धति के अनुसार उगाये जाने वाली फसलें

क्रमांक	प्रान्त	वृक्षों की फसल	सम्बन्धित कृषि फसलें
1.	उत्तर प्रदेश (U.P.)	साल *(Shorea robusta)* टीक *(Tectona grandis)* कत्था *(Acacia catechu)* शीशम *(Dalbergia sissoo)* यूकेलिप्टस *(Eucalyptus sp.)*	मक्का, धान, ज्वार, अरहर, सोयाबीन, गेहूँ, राई आदि।
2.	आन्ध्र प्रदेश (A.P.)	काजू *(Anacardium occidentale)* टीक *Tectona grandis)* बाँस *(Bamboosa)* यूकेलिप्टस	पहाड़ी चावल, मूँगफली एवं शक्कर कन्द।
3.	केरल (Kerala)	टीक *(Tectona grandis)* सेमल *(Bombex sp.)* यूकेलिप्टस *(Eucalyptus sp.)*	हल्दी, अदरक एवं धान।
4.	आसाम (Assam)	साल *(Sheorea robusta)*	धान

प्रश्न-4. वन-संसाधन की प्रकृति, समस्यायें एवं उनके समाधान हेतु किये गये प्रयासों का उल्लेख कीजिये।

अथवा

भारत की वन-नीति पर प्रकाश डालिये तथा इसके वन-क्षेत्र एवं वर्गीकरण का उल्लेख कीजिये।

उत्तर- वन-संसाधन प्राकृतिक संसाधनों का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसके अन्तर्गत देश की भूमि, जल, वन, खनिज वस्तुयें, सामुद्रिक वस्तुयें जैसे- मछली, जलवायु आदि विभिन्न प्रकार के तत्व सम्मिलित हैं।

प्राकृतिक संसाधनों के निम्नलिखित तीन तथ्य प्रभावशाली हैं जिन्हें इसकी विशेषताओं में सम्मिलित किया जा सकता है-

(1) **निष्क्रियता-** प्राकृतिक संसाधनों का स्वभाव है कि वे स्वयं निष्क्रिय हैं। यही कारण है कि उनका उपयोग तकनीकी ज्ञान एवं मानवीय श्रम के सहयोग से ही सम्भव हो पाता है। यदि तकनीकी ज्ञान एवं मानवीय श्रम इन प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं कर पाते हैं तो ये निष्क्रिय बने रहते हैं और देश के आर्थिक विकास में कोई सहयोग प्रदान नहीं करते हैं।

(2) **समाप्त होने वाले संसाधन एवं नवीनीकरण होने वाले संसाधन-** प्राकृतिक संसाधन दो प्रकार के हैं। पहले वे जिनको यदि काम में ले लिया जाये तो उनके भण्डार समाप्त हो जाते हैं और उनकी पूर्ति फिर प्रकृति द्वारा नहीं की जा सकती है। इनमें खनिज पदार्थ जैसे- कोयला, पेट्रोलियम आदि सम्मिलित हैं जो पृथ्वी-तल से नीचे पाये जाते हैं। दूसरे वे जो काम में लेने पर यद्यपि समाप्त हो जाने चाहियें, परन्तु प्रकृति उनका नवीनीकरण करती रहती है और इस प्रकार वे समाप्त नहीं होते हैं। इनमें वन, भूमि व जल जैसे संसाधन आते हैं।

(3) **ज्ञात एवं अज्ञात संसाधन-** वे प्राकृतिक संसाधन जिनका मनुष्य को ज्ञान होता है, उन्हें संसाधन कहते हैं। ज्ञात संसाधन वह हैं जो पृथ्वी की सतह पर पाये जाते हैं तथा जिनका ज्ञान मनुष्य को होता है। कुछ संसाधन ऐसे होते हैं जो भू-तल में पाये जाते हैं। इन्हीं संसाधनों को अज्ञात संसाधन कहते हैं। इन अज्ञात संसाधनों को ज्ञात करने के लिये मनुष्य को नवीन तकनीकें विकसित करनी पड़ती हैं, इसलिये इनके बारे में मनुष्य को ज्ञान नहीं होता है।

प्राकृतिक संसाधन किसी भी देश के आर्थिक विकास में सहायक होते हैं। एक देश की जलवायु, उसकी वनस्पति, खेतों की पैदावार, वहां के निवासियों की आवश्यकतायें, उनका व्यवसाय, जीवन-स्तर, कार्यक्षमता आदि अनेक बातें उस देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव डालती हैं। किसी देश के धरातल एवं जलमार्गों पर परिवहन के साधनों का विकास आधारित होता है। भूमि और वनों का आर्थिक विकास में महत्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। भूमि व मिट्टी की विविधता विविध उत्पादन में सहायक होती है। वनों से बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं। वनों से जलवायु समशीतोष्ण हो जाती है एवं भूमि का कटाव रुक जाता है एवं पशुओं को चारा प्राप्त होता है।

प्राकृतिक खनिज पदार्थ अधिक महत्वपूर्ण हैं जो देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहयोग प्रदान करते हैं। इन खनिज पदार्थों में कोयला, लोहा व पेट्रोलियम प्रमुख हैं जो अर्थव्यवस्था का स्वरूप व स्तर निर्धारित करते हैं।

भारत में वन-क्षेत्र- भारत में वन-क्षेत्र केवल 637.3 लाख हेक्टेयर है जो कुल भौगोलिक क्षेत्र का मात्र 19.39 प्रतिशत है। देश के कुल वन-क्षेत्र के 94 प्रतिशत भाग की आय सरकार के स्वामित्व के अन्तर्गत एवं शेष 6 प्रतिशत पंचायतों एवं निजी स्वामित्व के अन्तर्गत आती है।

भारत में वन-क्षेत्रों का वितरण असमान है। राज्यों की कुल भूमि के हिसाब से वन-क्षेत्रों का अनुपात इस प्रकार है- मिजोरम 89 प्रतिशत, नगालैण्ड 86 प्रतिशत, अरुणाचल प्रदेश 82 प्रतिशत, जम्मू व कश्मीर 61 प्रतिशत, मध्य प्रदेश 35 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश 48 प्रतिशत, बिहार (झारखण्ड सहित) 17 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश 7.3 प्रतिशत, राजस्थान 4 प्रतिशत तथा हरियाणा व पंजाब में 2 प्रतिशत क्षेत्र में वन पाये जाते हैं।

इस प्रकार भारत में प्रति व्यक्ति वन-क्षेत्र 671 वर्ग मीटर है। विद्वानों के अनुसार न्यूनतम 1.605 वर्ग मीटर प्रति व्यक्ति वन-क्षेत्र होना चाहिये।

भारत में वनों का वर्गीकरण- भारत में वनों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है- (1) सरकारी आधार पर, (2) प्रकृति के आधार पर।

(1) **सरकारी आधार पर-** सरकारी आधार पर वनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **आरक्षित वन-** यह वन सरकारी सम्पत्ति होते हैं तथा ऐसे वनों को बाढ़ों की रोकथाम, रेगिस्तान को रोकने, भूमि के कटाव को रोकने एवं देश की जलवायु एवं

पर्यावरण को उचित बनाये रखने के लिये सुरक्षित रूप में बनाये रखा जा सकता है। ऐसे वनों का उपयोग सरकारी अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

2. **संरक्षित वन–** यह वन भी सरकारी सम्पत्ति होते हैं परन्तु इन वनों के उपयोग करने का अधिकार निश्चित शर्तों पर सरकार द्वारा कुछ व्यक्तियों को प्रदान कर दिया जाता है।

3. **अवर्गीकृत वन–** ऐसे वनों को सरकार कुछ व्यक्तियों को प्रदान करती है जो वनों से लकड़ी काटकर बेचते हैं व पशुओं को चराने का कार्य करते हैं। भारत में इस समय 54 प्रतिशत वन आरक्षित, 29 प्रतिशत संरक्षित तथा शेष 17 प्रतिशत अवर्गीकृत के अन्तर्गत आते हैं।

(2) **प्रकृति के आधार पर–** प्रकृति के आधार पर वनों को 6 भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिनका विवरण इस प्रकार है–

1. **सदाबहार वन–** यह वन उन स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ 200 सेण्टीमीटर से अधिक वर्षा होती है। अधिक वर्षा के कारण ही यह वन सदा हरे–भरे रहते हैं। इन वनों में प्रमुख रूप से बाँस, ताड़, रबड़, आबनूस, चन्दन, बैंत, नारियल आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। भारत में सदाबहार वन कुल वन–क्षेत्र के 12 प्रतिशत भाग में पाये जाते हैं।

2. **मानसूनी वन–** यह वन उन स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ वर्ष में 100 से 200 सेण्टीमीटर तक वर्षा होती है। मानसूनी वन भारत के बहुमूल्य वन हैं जो कुल वन–क्षेत्र के लगभग 80 प्रतिशत भाग में पाये जाते हैं। इन वनों में साल, सागौन, आम, शीशम, चन्दन, सेमल व एबौनी की लकड़ी पायी जाती हैं, जो फर्नीचर व भवन–निर्माण के काम आती है।

3. **मरुस्थलीय वन–** यह वन उन स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ वर्षा कम होती है। इन वनों में काँटेदार वृक्ष, बबूल, खजूर, नीम, आम, बेर व ताड़ के वृक्ष पाये जाते हैं।

4. **पर्वतीय वन–** पर्वतीय वन पहाड़ों पर अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इनमें औषधियों के वृक्ष पाये जाते हैं। भारत में यह वन प्रमुख रूप से हिमालय पहाड़ पर ही पाये जाते हैं।

5. **अल्पाइन वन–** यह वन हिमालय पहाड़ पर 9,000 फीट से अधिक ऊंचाई पर पाये जाते हैं।

6. **नदी तट के वन–** यह वन नदियों के किनारों पर अधिक मात्रा में पाये जाते हैं जो नदियों में बाढ़ आ जाने अथवा पानी फैलने से बन गये हैं। इन वनों में इमली, जामुन, शीशम, खेर आदि के वृक्ष अधिक पाये जाते हैं।

भारत में वन–सम्पदा की मुख्य समस्यायें एवं उनका समाधान

भारतीय वन–सम्पदा अन्य देशों की तुलना में काफी पिछड़ी हुई है। वन–संसाधन की प्रमुख समस्यायें एवं समाधान निम्नलिखित हैं–

1. **वनों का क्षेत्रफल कम होना–** देश में वनों का क्षेत्रफल 19.39 प्रतिशत है जो कि बहुत कम है। विद्वानों का कहना है कि किसी देश में वनों का क्षेत्रफल देश के क्षेत्रफल का लगभग एक–तिहाई होना चाहिये। भारत की वन–नीति, 1952 में भी यही लक्ष्य निर्धारित किया गया था, परन्तु हम अभी तक इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके हैं। यद्यपि इस दिशा में सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है। साथ ही यहां

प्रति व्यक्ति वन 11 हेक्टेयर है। इसके विपरीत विश्व का औसत 1.08 हेक्टेयर है।

2. **वनों का ऊँचे पहाड़ों पर होना–** भारत में अधिकांश वन ऊँचे–ऊँचे पहाड़ों पर होने के कारण उनमें से लकड़ी काटना एवं उनसे उपलब्ध सामग्री को जन–उपयोग में लाना सम्भव नहीं है। अतः इसके लिये सुझाव दिया जाता है, कि ऐसी तकनीक विकसित की जाये जिससे कि भारतवासी वहाँ तक पहुंच सकें एवं उनसे लाभ प्राप्त कर सकें।

3. **वनों का असमान वितरण–** भारत में मिजोरम, नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश तथा जम्मू व कश्मीर में अधिक वन हैं, जबकि अन्य राज्यों में कम वन हैं। इस प्रकार वनों का वितरण देश में समान नहीं है। अतः यह सुझाव दिया जा सकता है, कि कमी वाले स्थानों पर वृक्षारोपण करके वनों में वृद्धि की जानी चाहिये।

4. **परिवहन सम्बन्धी कठिनाईयाँ–** वन–क्षेत्रों तक पहुंचने के लिये देश में सड़कों की उचित व्यवस्था नहीं है। यह भी एक गम्भीर समस्या है जिसके कारण वनों का उचित विदोहन नहीं हो पाया है। अतः सरकार को इन वन–क्षेत्रों में सड़कें बनाने के लिये पहल करनी चाहिये।

5. **परम्परागत तकनीक–** भारत में वनों से लकड़ी काटने के लिये परम्परागत तकनीक उपयोग में लायी जाती है जिससे लकड़ी काटने में समय एवं धन का अपव्यय होता है तथा काफी लकड़ी व्यर्थ चली जाती है। यह भी एक जटिल समस्या है। अतः वनों से लकड़ी काटने के लिये नवीन तकनीक का विकास किया जाना चाहिये, जिसके लिये अनुसन्धान एवं विकास कार्य को गति प्रदान की जानी चाहिये।

6. **शहरीकरण से वनों की समाप्ति–** शहरों की जनसंख्या में तीव्र गति से सतत् वृद्धि हो रही है जिसके लिये जंगलों को काटकर साफ कर दिया जाता है जिससे वनों के क्षेत्रफल में निरन्तर कमी होती जा रही है। इसके लिये सरकार को सड़कों के दोनों ओर वृक्ष लगवाने की व्यवस्था तथा स्थान–स्थान पर पार्क बनवाने का कार्य करना चाहिये।

7. **वनों का काटना–** वनों से लकड़ी प्राप्त करने के लिये वनों को निर्बाध गति से काटा जा रहा है जिससे वनों के क्षेत्रफल में लगातार कमी होती जा रही है। इसके लिये सुझाव दिया जाता है कि खनन कोयला के उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिये तथा नये–नये क्षेत्रों में वनों को लगाने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

वन–नीति– भारत में सबसे पहले ब्रिटिश सरकार द्वारा 1894 में एक वन–नीति प्रयोग की गयी जिसके अनुसार वनों की देख–रेख के लिये विकास समिति तथा प्रत्येक प्रान्त में वन–विभागों की स्थापना की गई। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य राजस्व प्राप्ति एवं वनों का संरक्षण थे। यह वन–नीति स्वतंत्रता–प्राप्ति तक चलती रही। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् एक नवीन वन–नीति की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। अतः सरकार ने सर्वप्रथम 1950 में एक केन्द्रीय वन–बोर्ड की स्थापना की। इस बोर्ड की अनुसंशाओं के आधार पर 31 मई, 1954 को केन्द्रीय सरकार ने वनों के सम्बन्ध में एक नवीन नीति घोषित की। इस वन–नीति के प्रस्ताव में यह स्वीकार किया गया कि, "वन अब कृषि के दास मात्र नहीं हैं, वरन् वे कृषि के अपरिहार्य मित्र एवं उपमाता के समान हैं। कृषि भूमियों की उत्पादकता को बनाये रखने एवं उसमें वृद्धि करने के लिये वन नितान्त आवश्यक हैं।" इस वन–नीति के प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं–

(1) वनों के अन्तर्गत क्षेत्रफल में वृद्धि करके 33:3 प्रतिशत करना, (2) वनों को लगाना, (3) वनों को संरक्षण प्रदान करना तथा (4) वनों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना लेकिन यह नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही।

अतः 7 दिसम्बर, 1988 को नवीन वन–नीति घोषित की गयी है जिसके तीन उद्देश्य हैं–

(1) पर्यावरण स्थिरता, (2) जीव–जन्तुओं व वनस्पति एवं प्राकृतिक सम्पत्ति की हिफाजत करना तथा (3) लोगों की बुनियादी जरूरतें पूरी करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इस नवीन वन–नीति में निम्न बातें सम्मिलित की गई हैं–

(i) पहाड़ी घाटियों व नदियों के जल–ग्रहण क्षेत्रों में जंगल का विकास किया जाना चाहिये।

(ii) जंगलों पर आदिवासियों और गरीबों के पुश्तैनी अधिकार बनाये रखे जायेंगे।

(iii) वनों की उत्पादकता बढ़ाने पर ध्यान दिया जायेगा।

(iv) पर्यावरण में सन्तुलन बनाये रखने के लिये वनों की कटाई रोकना।

(v) ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को छोड़कर वन पर आधारित उद्योगों की स्थापना नहीं की जायेगी।

(vi) ग्रामीण व आदिवासी इलाकों के लोगों की बुनियादी आवश्यकतायें जलाऊ लकड़ी, इमारती लकड़ी आदि की पूर्ति को ध्यान में रखा जायेगा।

पृथ्वी के पर्यावरण को बचाने के लिये संयुक्त–राष्ट्र का एक सम्मेलन रियो–डी–जनेरो (ब्राजील) में 3 जून से 14 जून, 1992 तक हुआ था जिसमें 178 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में एक विश्वव्यापी योजना को स्वीकार किया गया तथा पर्यावरण संरक्षण के प्रति प्रतिबद्धता दोहराई गई। इसी सम्मेलन में वन–संरक्षण के मुद्दे पर सीमित सहमति भी हुई। भारत के प्रधानमंत्री ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया तथा सहमति पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार भारत वन–संरक्षण सिद्धान्तों को पूरे तौर से मानता है।

प्रश्न–5. वन उन्मूलन के मुख्य कारण समझाइये।

अथवा

वनों का विनाश तेजी से हो रहा है। इनके विनाश के कारणों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– हमारे देश में वन–विनाश के लिये निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं–

(i) ऊर्जा प्राप्ति के लिये वनों का विनाश– वन–ऊर्जा का उपयोग केवल ऊर्जा संकट के समय ही नहीं परन्तु मानव सभ्यता के प्रारम्भिक समय से ही जब से मनुष्य ने आग जलाना सीखा था, उपयोग करता आ रहा है। वर्तमान समय में ऊर्जा प्राप्ति के लिये वनों का विनाश तीन विधियों से किया जा रहा है–

(1) जलाऊ लकड़ी के रूप में।

(2) वन–विद्युत शक्तिगृहों के लिये।

(3) वृक्ष हाइड्रोकार्बन से ऊर्जा प्राप्ति।

ग्रामीण भारत में आज भी जलाऊ लकड़ी रसोई ऊर्जा का महत्वपूर्ण साधन है। ग्रामीण भारत में उपयोग होने वाली कुल ऊर्जा का 59.29% भाग जलाऊ लकड़ी से ही प्राप्त होता है। वर्तमान समय में हमारे देश में जलाऊ लकड़ी की औसत खपत प्रति व्यक्ति 0.6 टन वार्षिक है।

विद्युत–शक्ति पैदा करने के लिये भी वनों को काटा जा रहा है। इस तरह के शक्तिगृहों को 'वुड फ्यूल पॉवर प्लांट' कहते हैं। 20,000 Kwh वुड फ्यूल पॉवर प्रतिदिन उत्पन्न करने के लिये 18 टन शुष्क लकड़ी प्रतिदिन की आवश्यकता है। शुष्क तथा अर्ध शुष्क क्षेत्रों

की प्राकृतिक वनस्पतियों में कुछ वृक्ष प्रजातियों से हाइड्रोकार्बन प्राप्त होता है। हाइड्रोकार्बन वाले वृक्षों से पेट्रोल निकालने का कार्य अभी केवल प्रयोगशालाओं में शोध का विषय बना हुआ है। अतः भविष्य में इन वृक्ष प्रजातियों के विनाश का अधिक भय बना हुआ है।

(ii) बाँध परियोजनाओं के निर्माण द्वारा वनों का विनाश– स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश के 12% वन क्षेत्रों का विनाश केवल नदी–घाटी क्षेत्रों में बाँध परियोजनाओं के निर्माण से हुआ है। उत्तर प्रदेश की राम गंगा नदी में कालागढ़ बाँध बनाने से कार्बेट नेशनल पार्क का 10% घना वन क्षेत्र जलाशय में डूब गया। केरल राज्य की साइलैण्ट वेली पनबिजली परियोजना के अधूरे निर्माण से अमूल्य वन सम्पदा का विनाश हुआ। पश्चिमी घाट तथा नीलगिरि पर्वत की अनेक बाँध परियोजनाओं के कारण वनों का व्यापक विनाश हुआ है। डॉ. माधव गाडगिल के अनुसार, "इन परियोजनाओं ने यहाँ की विशिष्ट वनस्पतियों को नष्ट कर दिया है।"

(iii) कृषि–भूमि के विस्तार के लिये वनों का विनाश– हमारे देश में जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। सीमित कृषि–भूमि के कारण इस बढ़ती हुई जनसंख्या का भरण–पोषण असम्भव है, क्योंकि कृषि यहाँ के ग्रामीण निवासियों का मुख्य व्यवसाय है। इसलिये ग्रामीण निवासियों द्वारा वैधानिक व अवैधानिक तरीकों से वनों को काटकर कृषि–भूमि में बदला गया। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद से आठवें दशक तक कृषि–भूमि के विस्तार के लिये अत्यधिक वन–भूमि का अतिक्रमण किया गया। हिमाचल प्रदेश में 17,990 हेक्टेअर, जम्मू–कश्मीर में 8,700 हेक्टेअर तथा उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में 43,300 हेक्टेअर वन–क्षेत्रों का अतिक्रमण किया गया।

(iv) औद्योगिक कच्चे माल की आपूर्ति के लिये वनों का विनाश– स्वतन्त्रता–प्राप्ति से पहले तथा इसके पश्चात् हमारे देश में वनों से प्राप्त कच्चे माल पर आधारित उद्योग–धन्धों का विकास किया गया। पिछले चार दशकों से औद्योगिक लकड़ी का उत्पादन अधिक बढ़ा है। 1947 की तुलना में आज हमारे देश में कागज का उत्पादन तीन गुना अधिक बढ़ा है। प्लाईवुड फैक्ट्रियों द्वारा सर्वाधिक वनों का विनाश उत्तर–पूर्वी भारत विशेषकर असम राज्य का हो रहा है। इन क्षेत्रों द्वारा भारत की कुल प्लाईवुड की माँग की 60% पूर्ति होती है। देश में इमारती लकड़ी तथा फर्नीचर की बढ़ती हुई माँग के कारण भी वनों का विनाश हो रहा है।

(v) पशुचारण द्वारा वनों का विनाश– हमारे देश में सम्पूर्ण विश्व का लगभग 2.4% क्षेत्रफल है जबकि सम्पूर्ण विश्व की लगभग 19% पशु संख्या भारत में है। भारत के वन–क्षेत्रों तथा चरागाह क्षेत्रों में पशुओं का दबाव अत्यधिक पड़ रहा है। वास्तविक रूप से देखें तो हमारे देश में प्रति पशु चरागाह क्षेत्रफल बहुत कम है। चरागाह क्षेत्र तथा वन–क्षेत्रों का आपस में सम्बन्ध है। ज्यों–ज्यों वनों का विनाश हो रहा है, त्यों–त्यों चरागाह क्षेत्र भी घटते जा रहे हैं। चरागाह की कमी के कारण हमारे देश में वन क्षेत्रों में भी अधिक पशुचारण होता है। पशुओं द्वारा अनियंत्रित चराई से एक ओर वनों का विनाश हो रहा है तो दूसरी ओर पशुओं के खुरों से मिट्टी उखड़कर मिट्टी अपरदन हो रहा है।

(vi) सड़कों व रेलवे मार्गों के निर्माण से वनों का विनाश– ब्रिटिश शासन काल में तथा स्वतन्त्रता के बाद रेलवे लाइनों में स्लीपर बिछाने के लिये साल के वनों को काटा गया। रेलवे लाइनों के सामने जो भी जंगल आते थे, उन्हें काट डाला गया। इसी तरह सड़क मार्गों के निर्माण में देश में सैकड़ों व हजारों हैक्टेअर वन–क्षेत्रों का विनाश हुआ। देश के जिन भागों में सड़कों व रेलमार्गों का जाल बिछाया गया है, वहाँ वनों का विनाश अत्यधिक हुआ है।

(vii) झूम कृषि द्वारा वनों का विनाश– उत्तर–पूर्वी भारत के आदिवासी क्षेत्रों में झूम कृषि द्वारा लगभग 95 लाख हेक्टेअर वन–भूमि प्रभावित है। आज भी उत्तर–पूर्वी भारत में अरुणाचल प्रदेश, असम, नागालैण्ड, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम तथा त्रिपुरा में लगभग 150 आदिवासी कबीले हैं जो झूम कृषि द्वारा वनों का विनाश कर रहे हैं। झूम कृषि द्वारा ही चेरापूँजी के सघन वन क्षेत्र वीरान पहाड़ियों में परिवर्तित हो गये हैं। देश के अन्य भागों में जैसे आन्ध्र प्रदेश तथा उत्कल के आदिवासी क्षेत्रों में भी झूम कृषि होती थी किन्तु अब बहुत कम हो गयी है।

(viii) अन्य कारणों से वनों का विनाश– अनेक प्राकृतिक घटनायें जेसे भूस्खलन, हिमस्खलन, जंगलों में लगी आग तथा जंगली जानवरों द्वारा बड़े पैमाने पर वनों का विनाश होता है। तेज गति से चलने वाले तूफान द्वारा भी चीड़ के जंगलों का विनाश अत्यधिक होता है। कभी–कभी तो तूफान द्वारा चीड़ के जंगल के जंगल समाप्त हो जाते हैं। प्रकृति द्वारा अथवा मानवीय भूल द्वारा जब जंगलों में आग लगती है तो जंगलों की घास, झाड़ियों, लताओं तथा पतली छाल के वृक्षों का जलकर मूल समाप्त हो जाता है। आग द्वारा वन्य–जीवों का भी अत्यधिक विनाश होता है।

प्रश्न–6. वन–विनाश के परिणामों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– वन मिट्टी को पोषण प्रदान करते हैं जिससे जीवन–चक्र चलता है। ये जीवनाधार मिट्टी बनाते हैं। इनके कटने से उर्वरक मिट्टी की ऊपरी परत वह जाती है। 1 सेमी. मिट्टी की पर्त बनने में जहाँ 400 वर्ष लगते हैं वह 1 वर्ष में बह जाती है। अतः भूमि पर 23% वनों का होना आवश्यक है जबकि पर्वतीय क्षेत्रों में 60% भू–भाग पर वन हैं। इसका प्रतिशत बहुत कम है। इसके मुख्य परिणाम निम्नलिखित होते हैं–

1. **वृक्ष–सम्पदा भू–क्षरण को रोकती है–** वृक्षों की झुरमुट वर्षा की तेज रफ्तार का असर कम करती है, क्योंकि तेज छड़ी सीधे पृथ्वी पर नहीं पड़ते। वर्षा की धार पत्तियों पर पड़ती है। यहाँ से पानी टपककर भूमि पर गिरता है। दूसरे वनों में पत्तियां बिछी रहती हैं। इसलिये पानी रिस–रिस कर भूमि के अन्दर पहुँचता है। जहाँ वन नहीं होते, वहाँ मिट्टी कट–कटकर नदियों में चली जाती है।
2. **नदियों के तेज बहाव को नियन्त्रित करना–** वन नदियों के तेज बहाव को नियन्त्रित करते हैं। वनीय क्षेत्र में वर्षा का पानी पेड़ों की जड़ों के स्पंज जैसे जाल में संचित हो जाता है और वहाँ से सालभर निकल–निकलकर नदी–नालों को सूखे के समय जलापूर्ति करता रहता है। बिना वन के पानी सीधे बहकर नदी–नालों में बहकर जाता है और केवल 5% ही पानी रह जाता है।
3. **बाढ़ पर रोक–** वनों के कटने के बाद घनी जनसंख्या वाले ऊष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में भयंकर बाढ़ें आती हैं जिससे जन, धन तथा सम्पत्ति की तबाही होती है। 1960–80 के बीच बाढ़ पीड़ितों की संख्या तिगुनी हो गई है। इन पीड़ितों की संख्या डेढ़ करोड़ से अधिक थी। पिछले वर्षों में बाढ़ प्रभावित क्षेत्र बढ़कर 4 करोड़ हैक्टेअर हो गया है। भारत के सरकारी अनुमान के अनुसार हर 20 व्यक्तियों के पीछे एक को बाढ़ का खतरा है।
4. **भयंकर सूखा–** जब वर्षा का पानी मिट्टी में संचित नहीं होता तो वर्षा के बाद नदी–नाले सूख जाते हैं। इससे भयंकर सूखा पड़ता है। महाराष्ट्र में वर्तमान में सूखे से पीड़ित गाँवों की संख्या छः हजार से बढ़कर 12 हजार हो गई है। उत्तर प्रदेश के हिमालय क्षेत्र अथवा हिमाचल प्रदेश में जल स्रोतों में 45% की कमी आयी है। इस वर्ष (सन् 2002) सूखे के कारण 60% पानी कम हो गया है। भागीरथी नदी तथा उसकी सहायक नदियों में बर्फ पिघलकर पानी न आने से उसने एक नाले का रूप ले लिया है।
5. **वनों में वृक्ष सम्पदा भूमि उपजाऊ बनती है–** वृक्षों की जड़ भूमि के गर्भ से पोषक तत्व खींचकर ऊपर लाती है और भूमि को उपजाऊ बनाती है। जहाँ वृक्ष नहीं होंगे, वहाँ भूमि का उपजाऊपन कम होता जाता है। जहाँ जंगल काटे गये है, वहाँ की भूमि के पोषक तत्व पानी में घुलकर वर्षा के जल के साथ बहकर चले जाते हैं।
6. **रेगिस्तान का प्रसार–** जब वनस्पति तथा पेड़ भूमि पर नहीं रहते तो रेगिस्तान का प्रसार होता है। हिमयुग में पृथ्वी के गर्भ क्षेत्र बर्फ से नहीं ढक पाये तब उनकी वनस्पति नष्ट हो गई इसलिये रेगिस्तान का प्रसार हो गया। सहारा रेगिस्तान, कालाहारी रेगिस्तान पूरे महाद्वीप में फैल गया। वृक्षों का आवरण रेगिस्तान से आने वाली रेत को रोकता है। इस तरह भी रेगिस्तान का प्रसार रूकता है।
7. **सूरज की किरणों का प्रभाव–** जब भूमि वनस्पति रहित होती है तो सूर्य की तेज किरणें पृथ्वी के पोषक तत्वों को झुलसा देती हैं। तब पेड़ का छत्रक सूर्य की तेज किरणों से मिट्टी को बचाता है।
8. **मौसम–चक्र–** हरे–भरे वन मौसम–चक्र को अनुकूल बनाये रखते हैं। वनों के कटने से वर्षा में कमी आयी है।
9. **वन वायु के तेज रफ्तार तथा तूफान को रोकते हैं–** वन वायु की तेज गति तथा तूफान को रोकते हैं। इससे खेतों की ऊपजाऊ मिट्टी उड़कर दूसरी जगह नहीं पहुँचती है। अतः वृक्ष धूल भरी आँधियों से गाँवों को भी बचाते हैं।
10. **वायु का परिशोधन–** पेड़ ऑक्सीजन गैस देकर विषैली गैस कार्बन डाई–ऑक्साइड लेकर वायु को श्वसन के लिये शुद्ध करते हैं। ये ध्वनि–प्रदूषण कम करते हैं।
11. **वर्षा का अधिक होना–** जब भाप भरी हवायें हरे–भरे जंगलों से ऊपर होकर गुजरती हैं तो ठण्डी होकर बरस पड़ती हैं। अगर हिमालय का वन–प्रदेश नहीं होता तो भारत भी अरब देशों की तरह रेगिस्तान होता।
12. **बेरोजगारी–** वन–विनाश के कारण लोगों के रोजगार में कमी आयी है। अधिकांश लोग वन से अपना रोजगार पाते हैं। वनों से उपजों का संग्रह करते हैं, कृषि–यन्त्रों के लिये लकड़ी प्राप्त करते हैं।
13. **जड़ी–बूटियों की कमी–** वनों से जड़ी–बूटियाँ प्राप्त होती हैं। इनसे बहुत से रोगों का निदान होता है।
14. **अन्य हानियाँ–** आदिवासी वनों से खाने की वस्तुयें प्राप्त करते हैं। वन के पशुओं को छिपने का स्थान मिलता है जोकि शिकारियों द्वारा मार डाले गये। औद्योगिक वस्तुयें, रंग–रोगन प्राप्त होते हैं जो कि यहीं मिलते हैं।

प्रश्न–7. भारतीय वनों से कौन–कौन से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष (परोक्ष) लाभ हैं?

उत्तर– वन राष्ट्रीय सम्पत्ति और हमारी अमूल्य निधि हैं। इनसे हमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के लाभ हैं–

1. वनों से प्रत्यक्ष लाभ– वनों से प्राप्त अप्रत्यक्ष लाभ निम्नलिखित हैं–

1. वनों से जलाने के लिये लकड़ी प्राप्त होती है।

2. वनों से प्रचुर मात्रा में इमारती लकड़ी की प्राप्ति होती है। इमारती लकड़ी प्रदान करने वाले वृक्षों में सागौन, शाल, शीशम, देवदार तथा चीड़ उल्लेखनीय हैं।
3. भारतीय वनों से प्रति वर्ष लगभग 200 करोड़ रुपये के बहुमूल्य पदार्थ निर्यात हेतु प्राप्त होते हैं।
4. कागज, दियासलाई, रबड़, लुगदी तथा अन्य बहुत-से उद्योग वनों से प्राप्त कच्चे माल पर निर्भर करते हैं।
5. वनों का उपयोग करने से राजस्व एवं रायल्टी के रूप में प्रतिवर्ष भारत सरकार को 500 करोड़ रुपये से अधिक पूँजी प्राप्त होती है।
6. भारतीय वनों से लगभग 8 करोड़ व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त है। यही नहीं वनों को उचित संरक्षण प्रदान कर रोजगार में और भी अधिक वृद्धि की जा सकती है।
7. भारतीय वनों से अनेक उप-उत्पाद भी प्राप्त होते हैं, जिनमें कत्था, रबड़, मोम, कुनैन तथा जड़ी-बूटियों की प्राप्ति उल्लेखनीय है।
8. वन पशुओं के लिये विस्तृत चारागाह के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं।
9. वनों में वन्य जीव-जन्तुओं को संरक्षण प्राप्त होता है।

अप्रत्यक्ष लाभ- वनों से प्राप्त अप्रत्यक्ष लाभ निम्नलिखित हैं-

1. वन जलवायु को सम बनाने में सहायक होते हैं। तापमान नियन्त्रित रहता है तथा वायुमण्डल में पर्याप्त आर्द्रता बनी रहती है।
2. वनों से वर्षा होती है। जिन क्षेत्रों में अधिक वन होते हैं, वह क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक वर्षा प्राप्त करते हैं। वनों को वर्षा का संचालक भी कहा जाता है।
3. जिन क्षेत्रों में अधिक वन होते हैं उनमें बाढ़ का प्रकोप कम हो जाता है। साथ ही वन वर्षा के जल का अधिकांश भाग अवशोषित कर लेते हैं।
4. वन वर्षा के बहाव को कम करते हैं। आस-पास की मिट्टी को जकड़े रखते हैं, जिससे भूमि कटाव में काफी कमी आती है। इससे मिट्टी के उपजाऊ तत्वों में कमी नहीं आती तथा भूमि का उपजाऊपन कायम रहता है।
5. वन विदेशी आक्रमण से भी सुरक्षा प्रदान करते हैं, क्योंकि जिस ओर सघन वनों का अस्तित्व होता है, उस ओर शत्रु का आक्रमण एक दुष्कर कार्य हो जाता है।
6. वनों में वृक्षों से जो पत्तियाँ तथा टहनियाँ गिरती हैं वह भूमि के जीवांश में वृद्धि करती हैं।
7. वनों के अस्तित्व से उस क्षेत्र के सौन्दर्य में वृद्धि होती है, जिससे वह क्षेत्र पर्यटन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है।
8. वनों से वायु प्रदूषण का प्रभाव कम होता है।
9. वन मरुस्थलीय भागों को आगे बढ़ने से रोकते हैं। सरदार पटेल का कहना था कि- 'यदि मरुस्थलों के बढ़ते प्रभाव को रोकना है तथा मानवीय सभ्यता की रक्षा करनी है तो हमें वनों को नष्ट होने से रोकना होगा।'
10. वनों की उपस्थिति भूमिगत जल के स्तर को ऊँचा करती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वन मानव को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लाभ प्रदान करते हैं तथा किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था में वनों का काफी महत्व होता है।

पश्चिमी देशों की तुलना में भारत का वन-उद्योग अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। वनों की वार्षिक उत्पादकता 0.5 घनमीटर प्रति हेक्टेयर है, जबकि फ्रांस में यह उत्पादकता 3.9 घन

मीटर, जापान में 1.8 घन मीटर तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 1.25 घन मीटर है। इस शोचनीय दशा के लिये निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हैं-

(1) भारतीय वन नीति के अनुसार देश में 33% वन क्षेत्र होना चाहिये परन्तु केवल असम, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मिजोरम, अण्डमान व निकोबार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा हिमाचल प्रदेश में ही राष्ट्रीय औसत से अधिक वन क्षेत्र मौजूद है। अन्य राज्यों में औसत से बहुत कम वन क्षेत्र हैं।

(2) भारत में प्रति व्यक्ति वन क्षेत्र केवल 0.19 हैक्टेयर है, जो विश्व के औसत (1.08 हैक्टेयर) से बहुत कम है। रूस में प्रति व्यक्ति वन क्षेत्र 3.5 हैक्टेयर तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 1.8 हैक्टेयर है।

प्रश्न-8. वन-विनाश को रोकने के उपाय बताइये।

उत्तर- मनुष्य तथा पर्यावरण में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्रारम्भिक काल में मानवीय गतिविधियां पूर्णरूपेण वनों पर आधारित थीं तथा जनसंख्या का स्तर कम था और वनों का विस्तार दूर तक फैला हुआ था। लेकिन जनसंख्या विस्तार के साथ-साथ वन क्षेत्र घटने लगे और पारिस्थितिक असंतुलन की विकराल समस्या उभरकर सामने आयी, जिसने पर्यावरण चक्र को अव्यवस्थित कर दिया, जिसका दुखद परिणाम सूखा, अकाल, अतिवृष्टि, बाढ़, अनावृष्टि, अव्यवस्थित तापमान, दूषित वायु तथा मृदाक्षरण के रूप में सामने आया। ये सब विपदायें वन विनाश के ही परिणाम हैं।

वन एक बहुमूल्य प्राकृतिक संसाधन है। मनुष्य के लिये वन प्रकृति का ऐसा वरदान है, जिस पर उसका अस्तित्व, उन्नति एवं समृद्धि आधारित है। यद्यपि प्राचीन काल से ही वन संरक्षण पर जोर दिया जाता रहा है, लेकिन मानव ने आदिकाल से ही वन संहार प्रारम्भ कर दिया था। उस समय घरों और वाहनों का निर्माण वनोत्पादों से ही किया गया तथा वनों का विनाश कर कृषि भूमि का विस्तार किया गया। आधुनिक काल में मानव की प्रकृति पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने, औद्योगिक क्रांति, जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि आदि के कारण पारिस्थितिक असंतुलन की स्थिति भयावह हो गयी है।

आग वनों का प्रबल शत्रु है। आग से भूमि को पकड़ने वाली जड़ें नष्ट हो जाती हैं, वन उपज के उत्पादन में क्षति हो जाती है, वृक्ष प्रजातियों तथा कृत्रिम पुनरोत्पादन को क्षति पहुँचती है। इस प्रकार वनों की सर्वाधिक क्षति आग से होती है। दिन-प्रतिदिन वनों के चरागाहों में परिवर्तित होना वन-विनाश के प्रमुख कारणों में से एक है। हमारी बढ़ती भोगवादी प्रवृत्ति ने वस्तुओं के निर्माण हेतु अत्यधिक वन-विनाश किया है। पर्यटन के विकास से भी वनों की कटाई हुई है। वनों में निवास करने वाले असंख्य कीड़े-मकोड़े, दीमक आदि वृक्षों को हानि पहुँचाते हैं। ये कीटनाशक दवाओं के डर से वनों से भागते हैं और अन्य वृक्षों को भी नुकसान पहुँचाते हैं। वृक्षों में होने वाली बीमारियों से भी वनों को हानि होती है। आधुनिक भौतिक प्रगति ने भारत के पर्यावरणीय संतुलन को झकझोर दिया है। सामाजिक चेतना के साथ-साथ भारत सरकार ने अधिनियम बनाकर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बढ़ रहे अंधाधुंध प्रदूषण को रोकने के लिये प्रभावी उपाय किये हैं। इस दृष्टि से वनों का विनाश पर्यावरणीय प्रदूषण का प्रमुख कारण है।

भारत सरकार ने वनों में आग को रोकने के लिये आधुनिक वन-अग्निशमन परियोजना संचालित की है तथा अवैधानिक कटाव और शिकार पर रोक लगायी है। वन विभाग भी वनों के प्रति पूर्णरूपेण सजग है। स्वयंसेवी संस्थायें भी वन-संरक्षण के प्रति प्रयत्नशील हैं।

वन–विनाश को रोकने के उपाय– वनों के बीच स्थान–स्थान पर ऊँची जगह में निरीक्षण गृह बनवाये जायें, जहाँ आधुनिक वन अग्निशमन परियोजना संयंत्रों की उपलब्धि तथा हर समय कर्मचारियों की उपस्थिति रहनी चाहिये। ऐसे निरीक्षण गृहों के बीच सुचारू संचार व्यवस्था होनी चाहिये। वन में रक्षा पथ तथा अग्नि अवरोध पथ की व्यवस्था होनी चाहिये। ये पथ क्रमशः वन की परिधि पर तथा वन के बीच खुले गलियारे होते हैं जो आग के प्रसार को रोकने मे सहायक होते हैं। वनों से केवल ऐसे वृक्षों को काटना चाहिये जो परिपक्व है तथा अपनी आयु को पूर्ण कर चुके है। ऐसे वृक्षों के कट जाने से नये पौधों को स्थान, खाद, पानी मिलना प्रारम्भ हो जाता है लेकिन ऐसे वृक्षों को काटते समय छोटे वृक्षों का ध्यान रखना चाहिये कि कहीं वे क्षतिग्रस्त न हो जाये। चयनात्मक कटाई तथा संघृत कटाई से भी वन–संरक्षण संभव है।

वृक्षों में लगने वाली दीमक, कीटाणुओं एवं बीमारियों की रोकथाम के लिये हेलीकॉप्टर द्वारा कीटनाशक दवाओं का छिड़काव कराया जाये क्योंकि कभी–कभी इनका प्रकोप संपूर्ण वन–प्रदेश को नष्ट कर देता है। वन विशेषज्ञों को इस समस्या पर अनुसंधान करना चाहिये। सरकार को चाहिये कि वह वनों को चरागाह बनने से रोके, इससे पशुओं द्वारा किया जाने वाला वनस्पति विनाश बंद होगा।

औद्योगिक तथा घरेलू उपकरणों के निर्माण में लकड़ी के स्थान पर लोहे से निर्मित वस्तुओं को अपनाया जाये। विद्युत शवदाह–गृह के प्रति मानसिकता को बदलकर उन्हें प्रचलन में लाया जाये। होली तथा अन्य पर्वों पर लकड़ी को प्रतीक स्वरूप जलाया जाये तथा घरेलू उपयोग में प्राकृतिक गैस एवं गोबर गैस को महत्व दिया जाये। ये कुछ उपाय हैं, जिनसे वन–विनाश की बढ़ती विभीषिका में कमी लायी जा सकती है। हमें यह मानकर चलना होगा कि वन–विनाश का अन्यतम विकल्प वनीकरण ही है।

प्रश्न–9. हरित–पट्टिका नियोजन का क्या महत्व है? इनमें से प्रयुक्त होने वाले कोई 5 पादपों के बारे में जानकारी दीजिये।

अथवा

हरित–पट्टिका अवधारणा क्या है? किसी औद्योगिक इकाई एवं कॉलोनी के समीप विकसित की जाने वाली हरित पट्टिका के नियोजन के बारे में पौधों के वानस्पतिक नाम देते हुये लिखिये।

अथवा

ग्रीनबेल्ट नियोजन पर टिप्पणी लिखिये।

अथवा

हरित–पट्टिका से क्या अभिक्रिया है? इसके महत्वों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर– हरित–पट्टिका– परिभाषा– औद्योगिक क्षेत्रों के अपशिष्ट पदार्थों व जलीय–प्रदूषकों के निकास से वातावरण में प्रदूषण की समस्या बढ़ गयी है। अतः उद्योगों के लिये सुनियोजित तरीके से वृक्षारोपण किया जाता है। इस प्रकार के वृक्षारोपण की हरित–पट्टिका नियोजन *(Green belt concept)* कहते हैं। यह कार्यक्रम प्रदूषण को कम करने में सहायक होता है। औद्योगिक इकाई प्रदूषण को फैलाती है और वह आस–पास की इकाइयों का भी प्रदूषण अपने साथ मिला लेती है। इस प्रकार के क्षेत्रों में हरित पट्टिका नियोजन के द्वारा हरे का विकास करना आवश्यक होता है।

उद्देश्य– हरित–पट्टिका नियोजन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) अनुपजाऊ व फालतू पड़ी–भूमि पर वृक्ष लगाकर उसका उपयोग करना।

(2) वृक्षों को लगाकर जल–हानि को रोकने का प्रयास करना।

(3) यात्रियों व पशु–पक्षियों को छाया व विश्राम–स्थल उपलब्ध कराना।

(4) मैदानी भागों में वायु द्वारा मृदा–अपरदन की क्रिया को रोकना।

(5) पहाड़ी क्षेत्रों को और अधिक आकर्षक बनाना।

(6) समय–समय पर मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

(7) आर्थिक महत्व के पशुओं को चारा उपलब्ध कराना।

(8) किसी स्थान के पारिस्थितिकीय क्षेत्रों को सुधारना।

महानगरों में हरित–पट्टिकों के नियोजन के लिये स्थान की आवश्यकता एवं सुविधाओं का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये। यहाँ पर आवश्यकतानुसार विशेष प्रकार के वृक्ष लगाने चाहिये। भूमि के अनुसार वृक्षों का चयन करना चाहिये। पेड़–पौधों के संरक्षण को भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। महानगरों के विकास के लिये प्रसिद्ध वनस्पति शास्त्री मेकहर्ग *(Mc harg. 1969)* ने अपनी पुस्तक *Design with nature* में हरित–पट्टिका नियोजन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जिसमें उन्होंने इसके अनेक दिशानिर्देशन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। प्रत्येक शहर का अपना विशिष्ट पारिस्थितिक तंत्र होता है जिसमें मनुष्य, वृक्ष, झाड़ियाँ, झरने आदि शामिल होते हैं। घनी जनसंख्या वाले क्षेत्रों में अनेक उद्योग होते हैं जो प्रदूषण को फैलाते हैं। वन तथा घास के मैदान शहरों की सुन्दरता में वृद्धि करते हैं साथ ही ये प्रदूषण नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। शहरों में उत्पन्न शोर, ऊष्मा तथा कार्बन डाय–ऑक्साइड का अवशोषण हरित–पट्टिका के द्वारा किया जाता है। हरित–पट्टिका के निर्माण करते समय उसकी देखभाल व सुरक्षा के पहलुओं का भी ध्यान रखना चाहिये।

हरित–पट्टिका की अवधारणा– हरित–पट्टिका के निर्माण करते समय किसी क्षेत्र को निम्न प्रकार से विभाजित कर देना चाहिये।

(1) **क्षेत्र I- बाहरी क्षेत्र–** इसके अन्तर्गत वे क्षेत्र आते हैं जहाँ पर उद्योगों से निष्कासित प्रदूषक ऊँचे वृक्षों पर रुक जाता है जो इनमें से होकर गुजरते हैं। अतः इन स्थानों पर पर्णपाती *(deciduous)* या सदाबहार *(evergreen)* वृक्षों को लगाना चाहिये। इसके लिये ग्रेवीलिया रोबसा *(Gravillea robusta)* केजुएराइना रोवस्टा *(Casuarina robsuta)* फाइकस रेलिजिओसा *(Ficus religiosa)*, यूकेलिप्टस *(Eucalyptus)* आदि वृक्षों को लगाया जा सकता है। इसके अलावा, वृक्षों की कुछ अपमार्जक जातियाँ जैसे (नीम) एजाडिरिक्टिव इण्डिका *(Azadirachta indica)* एकेसिया ऑरीकुलफार्मिस *(Acacia auriculiformis)* केसिया फिस्टूला *(Cassia fistula)*, एल्बीजिया लेबक *(Albigia lebbek)* को लगाया जा सकता है। उपरोक्त वृक्षों के अलावा अधिक ऊँचाई वाले सहनशील, सदाबहार वृक्षों को उगाना चाहिये जो अपमार्जक प्रकृति वाले हों।

(2) **क्षेत्र II मध्य क्षेत्र–** यह बाहरी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। यहाँ पर अमोनिया (NH_3) गैस की अधिक उत्पन्न होती है। इस प्रकार के स्थानों पर सहनशील, सघन, अपमार्जक वृक्षों को लगाना चाहिये। इसके लिये शीशम *(Dalbergia sissoo)* बरगद *(Ficus)* की विभिन्न जातियाँ कदम्ब *(Anthocephalus cadamba)* नीम *(Azadirachta indica)*, केसिया सियामिया *(Cassia siamea)* के वृक्षों को लगाया जाना अनुशंसित है। कुछ संवेदनशील व पर्णपाती वृक्षों की जातियाँ जैसे–कचनार *(Bauhinia variegata)* सिरस *(Albegia lebbek)* बोतल ब्रुश *(Callistemon laneeolatus)* को लगाना चाहिये।

(3) **क्षेत्र III पोषक क्षेत्र–** इस क्षेत्र के निकट औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित होती हैं। यहाँ पर धुँए का जमाव, रासायनिक पदार्थों का रिसाव आदि की आशंका रहती है। इस क्षेत्र में प्रदूषण सहन करने वाले वृक्षों जैसे– बेर *(Zizuphus jujuba)*, बाँस *(Bambusa sp.)*, साइजीयम क्यूमिनी *(Syzyum cumini)*, फाइकस डेकोरा *(Ficus diecora)*, शीशम

(*Dalbergia sissoo*), एकेसिया ऑरीकुलोफार्मिस (*Acacia aureculoformis*), पेल्टाफोरम फेरुजीनियम (*Paltaphorum ferrugineum*) आदि को लगाना चाहिये।

हरित–पट्टिका नियोजन की उपयोगिता

(1) **हरियाली के लिये हरित–पट्टिका–** हरियाली के उद्देश्य से लगायी जाने वाली हरित–पट्टिका को लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इसमें लगाये जाने वृक्षों की पत्तियाँ गहरी हरी, चमकीली हों जो देखने में सुन्दर प्रतीत हों जिससे चारों ओर हरियाली दिखाई दें। इस प्रकार की हरित–पट्टिका के लिये सीता अशोक (*saraca indica*), अशोका (*Polyathea longifolea*), झाऊ (*Casuarina sp.*) आस्ट्रेलियन बबूल (*Australian acacia*) को लगाना चाहिये। ये सभी वृक्ष लम्बे होते हैं। इन वृक्षों के ऊपर पत्तियाँ का हरे रंग का ताज होता है।

(2) **छाया के लिये हरित–पट्टिका–** छाया के लिये हरित–पट्टिका हेतु वृक्षों को लगाने के लिये नीम, आम, सिरस, बरगद, करंज उपयुक्त रहते हैं। ये शीतल घनी छाया प्रदान करते हैं।

(3) **आश्रय के लिये हरित–पट्टिका–** ग्रामीण व शहरी यात्रियों, श्रमिकों को छाया व विश्राम प्रदान करने के लिये बरगद (*Ficus benghalengis*), कदम्ब (*Anthocephalus*), मोलश्री (*Mimosops sp.*) सीता अशोक (*Saraca indica*), पीपल (*Ficus religiosa*) के वृक्ष लगाने चाहिये।

(4) **वायु–प्रदूषण नियंत्रण के लिये हरित–पट्टिका–** वायु–प्रदूषण के नियंत्रण के लिये कारखानों के निकट औषधि प्रदान करने वाले पौधों को लगाना चाहिये। इससे प्रदूषण उत्पन्न करने वाली गैसों के दूषित प्रभाव को कम किया जा सके। यहाँ पर नीम, पीपल, बरगद, सीता अशोक, मोलश्री, यूकेलिप्टस, बबूल आदि के वृक्ष लगाना चाहिये।

(5) **रंगीन दृश्यावली हेतु हरित–पट्टिका–** रंग–बिरंगे पुष्पों का हमारे समाज में विशेष महत्व है। अमलतास (*Cassia fistula*), कचनार (*Bauhinia variegata*), सेमल (*Bombox sp.*), कनेर (*Nerium sp.*), हर श्रृंगार (*Nyctanthus*) बोतल ब्रुश (*Callistemon*) तथा आकाश नीम (*Meligtonia hartensis*) के पुष्प रंग बिरंगे होते हैं। ये हरित पट्टिका में रंगीन दृश्यावली उत्पन्न करते हैं।

(6) **सुगन्ध प्रदान करने वाली हरित–पट्टिका–** सुगन्ध उत्पन्न करने वाली पट्टिका के लिये चम्पा (*Michallia champaca*), लाल चम्पा (*Plumeria*), रात की रानी (*Iberis amara*), पीली कनेर, गुलमोहर आदि के वृक्ष लगाने चाहिये। इन वृक्षों के पुष्प खुशबू उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न– 10. रिमोट सेंसिंग क्या है?

उत्तर– रिमोट सेंसिंग किसी भी भौतिक सम्पर्क के बिना जानकारी इकट्ठा करने और किसी वस्तु या घटना का विश्लेषण करने की एक तकनीक है। इस तकनीक का उपयोग भूगोल, जल विज्ञान, पारिस्थिकी, समुद्र विज्ञान, ग्लेशियोलॉजी, भूविज्ञान जैसे कई क्षेत्रों में किया जाता है।

भौगोलिक सूचना प्रणाली एक उपकरण है जिसका उपयोग पृथ्वी पर विशिष्ट घटनाओं के मानचित्रण और विश्लेषण के लिए किया जाता है। रिमोट सेंसिंग और जीआईएस उन्नत सांख्यिकीय विश्लेषण और क्वेरी जैसे प्रमुख डेटाबेस संचालन को मानचित्रों के साथ जोड़ता है। जीआईएस स्थानों पर जानकारी का प्रबंधन करता है और विभिन्न आंकड़ों के विश्लेषण और प्रदर्शन के लिए उपकरण प्रदान करता है जिसमें जनसंख्या, आर्थिक विकास विशेषताएं और वनस्पति शामिल हैं। यह गतिशील डिस्प्ले बनाने के लिए डेटाबेस को लिंक करता है

अनुमति देता है। ये क्षमताएँ जीआईएस को अन्य प्रणालियों से अलग बनाती हैं और इसे रिमोट सेंसिंग उपग्रहों से परिणामों की योजना बनाने और भविष्यवाणी करने के लिए निजी और सार्वजनिक रिमोट सेसिंग अनुप्रयोगों की एक विस्तृत श्रृंखला बनाती हैं।

रिमोट सेंसिंग के लिए निम्नलिखित तीन आवश्यक तत्व हैं–

(1) यंत्र को रखने के लिए एक मंच, (2) कोई लक्ष्य या वस्तु तथा (3) एक उपकरण या सेंसर (लक्ष्य का निरीक्षण करने के लिए)।

रिमोट सेंसिंग का संक्षिप्त इतिहास– आधुनिक रिमोट सेसिंग की तकनीक कैमरे के आविष्कार के साथ शुरू हुई। पहले की तस्वीरें "स्थिर तस्वीरें" थीं, लेकिन स्थलाकृति मानचित्रण के उद्देश्य से पृथ्वी की तस्वीरें लेने का विचार 1840 के दशक के दौरान उभरा। चित्र लेने के लिए गुब्बारों में कैमरे लगाए गए। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, भूमि का हवाई दृश्य प्राप्त करने के लिए हवाई जहाजों पर कैमरे लगाए गए जो सेना में क्रान्ति लाने वाले साबित हुए। अन्तरिक्ष युग के दौरान ही सैटेलाइट रिमोट सेंसिंग का विकास हुआ। उनका उपयोग पृथ्वी की सतहों की इमेजिंग के साथ–साथ अन्य अन्तरिक्ष यान को सेंसर करने के उद्देश्य से किया गया था। "रिमोट सेंसिंग" शब्द का प्रयोग पहली बार संयुक्त राज्य अमेरिका में 1950 के दशक में अमेरिकी नौसेना अनुसंधान कार्यालय की सुश्री एवलिन प्रुइट द्वारा किया गया था।

रिमोट सेंसिंग के प्रकार–

(1) **सैटेलाइट रिमोट सेंसिंग–** ये रिमोट सेंसिग सैटेलाइट कई सेंसर से लैस होते हैं इनका मुख पृथ्वी की ओर होता है। वे पृथ्वी पर लगातार अनुमानित कक्षाओं में घूमते हुए दिखते हैं।

पृथ्वी की सैटेलाइट रिमोट सेंसिंग में, सेंसर पृथ्वी की तरह से सेंसर को अलग करने वाले वातावरण की एक परत से देखते हैं। इसलिए, वायुमंडल के माध्यम से पृथ्वी से सेंसर तक यात्रा करने वाले विद्युत चुम्बकीय विकिरण पर वातावरण के प्रभाव को समझना आवश्यक है। वायुमंडलीय घटक वेबलेंथ डिपेंडेंट अब्सॉर्शन और विकिरण के बिखरने का कारण बनते हैं। ये प्रभाव छवियों के आगे विश्लेषण और व्याख्या के अधीन होने से पहले कुछ वायुमंडलीय प्रभावों को ठीक किया जा सकता है।

(2) **ऑप्टिकल और इंफ्रारेड रिमोट सेंसिंग–** ऑप्टिकल रिमोट सेंसिंग में, ऑप्टिकल सेंसर पृथ्वी से रिफ्लेक्ट और स्कैटर्ड होने वाली सोलर रेडिएशन का पता लगाते हैं, और अन्तरिक्ष में कैमरे से ऊपर की तस्वीरों की तरह छवियों को बनाते हैं।

पानी, मिट्टी, वनस्पति इमारतों और सड़कों जैसी विभिन्न सामग्रियों में विभिन्न तरीकों से विजिबल और इंफ्रारेड लाइट दिखाई देती है। सूर्य के नीचे देखे जाने पर उनके पास अलग–अलग रंग और चमक होती है। ऑप्टिकल छवियों की व्याख्या के लिए पृथ्वी की सतह को कवर करने वाली विभिन्न सामग्रियों (प्राकृतिक या मानव निर्मित) के स्पेक्ट्रल प्रतिबिम्ब हस्ताक्षर के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

पृथ्वी से उत्सर्जित थर्मल इंफ्रारेड रेडिएशन को मापने वाले इंफ्रारेड सेंसर भी हैं, जिनसे जमीन या समुद्र की सतह का तापमान प्राप्त किया जाता है।

(3) **माइक्रोवेव रिमोट सेंसिंग–** कुछ रिमोट सेंसिंग सैटेलाइट्स हैं जो निश्चित या सक्रिय माइक्रोवेव सेंसर लेते हैं। सक्रिय सेंसर इमेज किए जाने वाले क्षेत्रों को रोशन करने के लिए माइक्रोवेव रेडिएशन में पर्सेस को उत्सर्जित करते हैं। पृथ्वी की सतह की छवियां जमीन या समुद्र से सेंसर में बिखरे माइक्रोवेव ऊर्जा को मापकर बनाती जाती हैं।

इन सैटेलाइट्स में अपने लक्ष्य को प्रदर्शित करने के लिए माइक्रोवेव एमिट करने वाली अपनी "फ्लैशलाइट" होती है। इस प्रकार छवियों को दिन और रात दोनों में प्राप्त किया जा सकता है। माइक्रोवेव के पास अतिरिक्त लाभ होता है क्योंकि वे बादलों में प्रवेश कर सकते हैं। जब पृथ्वी की सतह को ढंकने वाले बादल होते हैं तब भी छवियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

रिमोट सेंसिंग के अनुप्रयोग या लाभ– ये निम्नवत् हैं–

(1) रिमोट सेंसिंग के द्वारा हम उपग्रहों और विमानों पर कैमरे पृथ्वी की सतह पर बड़े क्षेत्रों की छवियाँ (Pictures) लेते हैं, जिसमें हम जमीन पर खड़े होकर जितना देख सकते हैं उससे कहीं अधिक हमें देखने की सुविधा मिलती है।

(2) रिमोट सेंसिंग से जहाजों पर सोनार सिस्टम द्वारा समुद्र के नीचे यात्रा किये बिना ही समुद्र तल की छवियों को देख सकते हैं।

(3) रिमोट सेंसिंग से उपग्रहों पर कैमरे का उपयोग महानगरों में तापमान परिवर्तन की छवियों को बनाने के लिए किया जा सकता है। बड़े जंगल में लगी आग को अन्तरिक्ष से मैप किया जा सकता है, जिससे रेंजरों को जमीन से कहीं अधिक बड़ा क्षेत्र देखने की सुविधा मिलती है।

(4) रिमोट सेंसिंग से मौसम की भविष्यवाणी करने में मदद करने के लिए बादलों को ट्रैक करने और धूल के तूफानों को देखने में मदद मिलती है।

(5) रिमोट सेंसिंग से एक शहर के विकास और कई वर्षों या यहाँ तक कि दशकों में कृषि भूमि या जंगलों में परिवर्तनों को ट्रेक किया जा सकता है।

❑❑❑

❑ **कृपया ध्यान दें :** नई शिक्षा नीति इस वर्ष स्नातक तृतीय वर्ष में लागू की गई है। परीक्षा के नये पैटर्न में वस्तुनिष्ठ प्रश्न, लघुउत्तरीय प्रश्न तथा दीर्घउत्तरीय प्रश्न पूछे जायेंगे। कुछ लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर इस पुस्तक में दिये गये हैं। दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर में ही लघुउत्तरीय प्रश्नों के उत्तर निहित हैं। इस हेतु आप लघुउत्तरीय प्रश्न में जितना पूछा जावे, दीर्घउत्तरीय प्रश्न के उत्तर का उतना ही भाग लिखें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

इकाई-1

(1) वनस्पति विज्ञान की वह शाखा जिसमें पादपों एवं पर्यावरण के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है, कहलाती है–
(अ) कार्यिकी (ब) पादप पारिस्थितिकी
(स) आकारिकी (द) फाइकोलॉजी।
उत्तर– (ब) पादप पारिस्थितिकी।

(2) इकोसिस्टम की खाद्य कड़ी में मानव एक ..... है।
(अ) उपभोक्ता (ब) उत्पादक
(स) उत्पादक और उपभोक्ता (द) उत्पादक और अपघटन।
उत्तर– (अ) उपभोक्ता।

(3) खाद्य कड़ी में पहला जोड़ पौधा है, क्योंकि–
(अ) हरे पौधे भोजन संश्लेषण कर सकते हैं
(ब) हरे पौधे सब कुछ खा सकते हैं
(स) हरे पौधे एक स्थान पर स्थिर रहते हैं
(द) उपर्युक्त कोई बात सही नहीं है।
उत्तर– (अ) हरे पौधे भोजन संश्लेषण कर सकते हैं।

(4) निम्नलिखित में से इकोसिस्टम की सही परिभाषा है–
(अ) परस्पर क्रिया करने वाला जीव समुदाय
(ब) इकोसिस्टम का अजीवीय घटक
(स) पृथ्वी और वायुमण्डल का क्षेत्र जहाँ जीव रहते हैं
(द) जीव समुदाय और उसके भौतिक वातावरण का तन्त्र।
उत्तर– (द) जीव समुदाय और उसके भौतिक वातावरण का तन्त्र।

(5) वन इकोसिस्टम में हरे पादप क्या है?
(अ) प्राथमिक उत्पादक (ब) प्राथमिक उपभोक्ता
(स) उपभोक्ता (द) अपघटक।
उत्तर– (अ) प्राथमिक उत्पादक।

(6) निम्नलिखित में से किसके द्वारा किसी परिस्थितिक तन्त्र का समुचित अध्ययन किया जाता है?
(अ) ऊर्जा पिरामिड (ब) जैवभार पिरामिड
(स) जैव संख्या पिरामिड (द) उपर्युक्त सभी से।
उत्तर– (अ) ऊर्जा पिरामिड।

(7) प्रकृति में खनिज चक्र क्या कहलाता है?
(अ) रासायनिक चक्र (ब) जैव चक्र
(स) जैव–भू–रासायनिक चक्र (द) कोई भी नहीं।

उत्तर– (स) जैव–भू–रासायनिक चक्र।

(8) छायादार क्षेत्र में उगने वाले पादप कहलाते हैं–
(अ) मरुद्भिद् (ब) आतपोद्भिद्
(स) छायापोद्भिद् (द) जलोद्भिद्।

उत्तर– (स) छायापोद्भिद्।

(9) पायोनियर तथा क्लाइमैक्स समुदाय के बीच के माध्यमिक समुदाय कहलाते हैं–
(अ) पादप समुदाय (ब) जीवीय समुदाय
(स) ट्रान्जिटरी समुदाय (द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर– (स) ट्रान्जिटरी समुदाय।

(10) पादप अनुक्रमण में अन्तिम स्थिरता प्राप्त समुदाय कहलाता है–
(अ) क्लाइमैक्स समुदाय (ब) सीरल समुदाय
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।

उत्तर– (अ) क्लाइमैक्स समुदाय!

(11) समुदाय पारिस्थितिक मे किसका अध्ययन किया जाता है?
(अ) वातावरण (ब) पादप समुदाय
(स) जनसंख्या (द) कुछ नहीं।

उत्तर– (ब) पादप समुदाय।

(12) जलक्रमण (Hydrosere) कहाँ से प्रारम्भ होता है?
(अ) जल से (ब) बालू से
(स) रेगिस्तान से (द) सभी से।

उत्तर– (अ) जल से।

(13) मरुक्रमण (Xerosere) कहाँ से प्रारम्भ होता है?
(अ) जल से (ब) नंगी चट्टान से
(स) दलदल से (द) सभी से।

उत्तर– (ब) नंगी चट्टान से।

(14) पादप अनुक्रमण में आखिरी स्थायी समुदाय को ..... कहते हैं।
(अ) इकोसियर (ब) चरम समुदाय
(स) क्रमिक समुदाय (द) इकोटोन।

उत्तर– (ब) चरम समुदाय।

(15) पादप अनुक्रमण का अर्थ है–
(अ) खाली स्थान में होने वाला पादपों का विकास
(ब) किसी स्थान पर पाये जाने वाले जीव–जन्तु
(स) किसी स्थान पर उपस्थिति पौधे
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

उत्तर– (अ) खाली स्थान में होने वाला पादपों का विकास।

(16) पादप समुदाय का विकास ..... कहलाता है।
(अ) प्रतिक्रिया (ब) अनुक्रमण
(स) आक्रमण (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (ब) अनुक्रमण।

(17) चरम अवस्था (Climax stage) किस में पाई जाती है।
(अ) अनुक्रमण के प्रारम्भ में (ब) अनुक्रमण के मध्य में
(स) अनुक्रमण के अन्त में (द) उपर्युक्त किसी में नहीं।

उत्तर– (स) अनुक्रमण के अन्त में।

(18) मरुक्रमण (Xerosere) में ..... अवस्था पाई जाती है।
(अ) फोलियोज लाइकेन (ब) फ्लोटिंग
(स) रीड स्वेम्प (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (अ) फोलियोज लाइकेन।

(19) लाइकेन्स द्वारा ..... स्रावित होते हैं।
(अ) म्यूसिलेज (ब) हॉर्मोन्स
(स) कार्बनिक अम्ल (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (स) कार्बनिक अम्ल।

(20) जलक्रमण (Hydrosere) की प्लेंक्टॉन अवस्था में ..... पाये जाते हैं।
(अ) टाइफा (ब) घासें
(स) डायएटम्स (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (स) डायएटम्स।

(21) जलाशय में तट का निर्माण ..... अवस्था में होता है।
(अ) प्लावित (ब) प्लेंक्टॉन
(स) निमग्न (द) रीड स्वेम्प।

उत्तर– (द) रीड स्वेम्प।

(22) जब एक ही जाति के जीव जो एक स्थान पर रहते हैं तो उसे ..... कहते हैं।
(अ) जन्तु समूह (ब) जनसंख्या
(स) समुदाय (द) जीव–मण्डल।

उत्तर– (ब) जनसंख्या।

(23) निम्न में से सर्वाधिक प्रतियोगी संघर्ष किनके बीच होता है?
(अ) दो कुल (ब) जो जातियाँ
(स) दो श्रेणी (द) पारिस्थितिक गर्त।

उत्तर– (स) दो श्रेणी।

(24) कौन जैविक शक्तिता का विरोध करता है?
(अ) भोजन स्रोत की सीमायें (ब) परभाक्षिता
(स) अन्य जीवों से प्रतियोगिता (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(25) दो वानस्पतिक क्षेत्रों के बीच के लम्बे संक्रमण प्रवेश को ..... कहते हैं।
(अ) इलोलाइन, (ब) इकोटाइप
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर

उत्तर– (स) इकोटोन।

(26) पायोनियर तथा क्लाइमैक्स समुदाय के बीच के माध्यमिक समुदाय को ..... कहते हैं।
(अ) पादप समुदाय (ब) जीवीय समुदाय
(स) ट्रान्जिटरी समुदाय या सीयर्स (द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर– (स) ट्रान्जिटरी समुदाय या सीयर्स।

(27) पादप अनुक्रमण में अन्तिम स्थिरता प्राप्त समुदाय को.....कहते हैं।
(अ) क्लाइमैक्स समुदाय (ब) सीरल समुदाय
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।

उत्तर– (अ) क्लाइमैक्स समुदाय।

(28) किसी निर्धारित आवास में रहने वाले पौधे एवं जन्तु.....का निर्माण करते हैं।
(अ) जनसंख्या (ब) समुदाय
(स) पारिस्थितिक तंत्र (द) प्लॉक्टोन्स।

उत्तर– (ब) समुदाय।

(29) फाइटोट्रॉन एक यन्त्र है जिससे–
(अ) प्रोटॉन निकलते हैं
(ब) पौधे नियन्त्रित वातावरण में उगाये जाते हैं
(स) पौधों में उत्परिवर्तन प्रेरित करते हैं
(द) इलेक्ट्रॉन की बमबारी करते हैं।

उत्तर– (ब) पौधे नियन्त्रित वातावरण में उगाये जाते हैं।

(30) शीतोष्ण सदाबहार जंगल भारत में कहाँ मिलते हैं?
(अ) आसाम (ब) अरावली
(स) हिमालय (द) पश्चिमी घाट।

उत्तर– (स) हिमालय।

(31) श्वसन मूल (न्यूमेटोफोर) उन पादपों में मिलते हैं,जो उगते हैं–
(अ) सामान्य जलवायु में (ब) शुष्क जलवायु में
(स) जल में
(द) समुद्र के किनारे लवणीय जल के दलदल में।

उत्तर– (द) समुद्र के किनारे लवणीय जल के दलदल में।

(32) एक ही जाति के जीव जो एक स्थान पर रहते हैं, कहलाते हैं–
(अ) जन्तु समूह (ब) जनसंख्या
(स) समुदाय (द) जीव–मण्डल।

उत्तर– (ब) जन्तु समूह।

(33) जैविक शक्तिता का विरोध कौन करता है?
(अ) भोजन–स्त्रोत की सीमायें (ब) परभक्षिता
(स) अन्य जीवों से प्रतियोगिता (द) उपरोक्त सभी।

उत्तर– (द) उपरोक्त सभी।

(34) यदि एक जनसंख्या में जीवों की संख्या बढ़ती है, तो क्या होता है?
(अ) जैविक शक्तिता बढ़ती है (ब) जैविक शक्तिता कम होती है
(स) वातावरण का प्रतिरोध बढ़ता है (द) उपरोक्तता कुछ नहीं।

उत्तर– (अ) जैविक शक्तिता बढ़ती है।

(35) एक ही जाति के जीव जो एक स्थान पर रहते हैं उन्हें ..... कहा जाता है।
(अ) जन्तु समूह (ब) जनसंख्या
(ब) समुदाय (द) जीव–मण्डल।

उत्तर– (ब) जनसंख्या।

(36) सबसे अधिक प्रतियोगी संघर्ष ..... के बीच होता है।
(अ) दो कुल (ब) दो जातियों
(स) दो श्रेणी (द) पारिस्थितिक–गर्त (niche)

उत्तर– (स) दो श्रेणी।

(37) जैविक–शक्तिता (biotic potential) का विरोध करता है–
(अ) भोजन स्त्रोत की सीमाए (ब) परभक्षिता
(स) अन्य जीवों से प्रतियोगिता (द) उपरोक्त सभी।

उत्तर– (द) उपरोक्त सभी।

(38) दो वानस्पतिक क्षेत्रों के बीच का लम्बा संक्रमण प्रदेश ..... कहलाता है।
(अ) इकोलाइन (ब) इकोटाइप
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।

उत्तर– (स) इकोटोन।

(39) पायोनियर तथा क्लाइमैक्स समुदाय के बीच के माध्यमिक समुदाय ..... कहलाते हैं।
(अ) पादप समुदाय (ब) जीवीय समुदाय
(स) ट्रान्जिटरी समुदाय या सीयर्स (द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर– (स) ट्रान्जिटरी समुदाय या सीयर्स।

(40) पादप अनुक्रमण में अन्तिम स्थिरता प्राप्त समुदाय ..... को कहा जाता है।
(अ) क्लाइमैक्स समुदाय (ब) सीरल समुदाय
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।

उत्तर– (अ) क्लाइमैक्स समुदाय।

(41) निर्धारित आवास में रहने वाले पौधे एवं जन्तु क्या बनाते हैं?
(अ) जनसंख्या (ब) समुदाय
(स) पारिस्थितिक तन्त्र (द) प्लॉक्टोन्स।

उत्तर– (ब) समुदाय।

इकाई-2

(1) बायोसीनोसिस शब्द का प्रयोग किया था–
(अ) फैड्रिक ने (ब) कार्ल मोबियस ने
(स) थाइमेन (द) एस. ए. फोबर्स ने।

उत्तर– (ब) कार्ल मोबियस ने।

(2) जलोद्भिद (hydrophytes) का विशेष लक्षण क्या है?
(अ) काँटेदार छोटे तने (ब) कोमल एवं लिसलिसे तने
(स) मोटी एवं बड़ी पत्ती (द) कोई भी नहीं।

उत्तर– (ब) कोमल एवं लिसलिसे तने।

(3) तैरती पत्तियों वाले जलीय पादप में क्या पाया जाता है?
(अ) रन्ध्रीय स्टोमेटा होते हैं

(ब) पत्ती की सतह पर स्टोमेटा होते हैं
(स) पत्ती की निचली सतह पर स्टोमेटा होते हैं
(द) पत्ती की ऊपरी सतह पर स्टोमेटा होते हैं।

उत्तर– (द) पत्ती की ऊपरी सतह पर स्टोमेटा होते हैं।

(4) मरुभूमि के पादप अधिकतर क्या होते हैं–
(अ) रसदार (ब) विषमवर्णी
(स) शाकीय (द) वीवीपेरस।

उत्तर– (अ) रसदार।

(5) फाइटोट्रॉन यन्त्र से–
(अ) प्रोटॉन निकलते हैं
(ब) पौधे नियन्त्रित वातावरण में उगाये जाते हैं
(स) पौधों में उत्परिवर्तन प्रेरित करते हैं
(द) इलेक्ट्रॉन की बमबारी करते हैं।

उत्तर– (ब) पौधे नियन्त्रित वातावरण में उगाये जाते हैं।

(6) समुद्र के किनारे ..... पौधे पाये जाते हैं।
(अ) जलोद्भिद (ब) लवणोद्भिद
(स) मरुद्भिद (द) कोई नहीं।

उत्तर– (ब) लवणोद्भिद।

(7) जलक्रमण.....से प्रारम्भ होता है।
(अ) जल से (ब) बालू से
(स) रेगिस्तान से (द) सभी से।

उत्तर– (अ) जल से।

(8) पादप समुदाय के विकास को.....कहा जाता है।
(अ) प्रतिक्रिया (ब) अनुक्रमण
(स) आक्रमण (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (ब) अनुक्रमण।

(9) नग्न अवस्था कब पाई जाती है?
(अ) अनुक्रमण के प्रारम्भ में (ब) अनुक्रमण के मध्य में
(स) अनुक्रमण के अन्त में (द) उपर्युक्त किसी में नहीं।

उत्तर– (स) अनुक्रमण के अन्त में।

(10) मरुक्रमण में.....अवस्था पाई जाती है।
(अ) फोलियोज लाइकेन अवस्था (ब) फलोटिंग अवस्था
(स) रीडस्वेम्प (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (अ) फोलियोज लाइकेन अवस्था।

(11) जल क्रमण की प्लेक्टॉन अवस्था में क्या पाये जाते हैं?
(अ) टाइफा (ब) घासें
(स) डायएटम्स (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (स) डायएटम्स।

(12) जलाशय में तट का निर्माण.....अवस्था में होता है।
(अ) प्लावित अवस्था (ब) प्लैक्टॉन अवस्था
(स) निमग्न अवस्था (द) रीड स्वेम्प अवस्था।

उत्तर– (द) रीड स्वेम्प अवस्था।

(13) पादप अनुक्रमण में अन्तिम स्थिरता प्राप्त समुदाय कहलाता है–
(अ) क्लाइमैक्स समुदाय (ब) सीरल समुदाय
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।

उत्तर– (अ) क्लाइमैक्स समुदाय।

(14) समुदाय पारिस्थितिक मे किसका अध्ययन किया जाता है?
(अ) वातावरण (ब) पादप समुदाय
(स) जनसंख्या (द) कुछ नहीं।

उत्तर– (ब) पादप समुदाय।

(15) पादप अनुक्रमण में आखिरी स्थायी समुदाय को ..... कहते हैं।
(अ) इकोसियर (ब) चरम समुदाय
(स) क्रमिक समुदाय (द) इकोटोन।

उत्तर– (ब) चरम समुदाय।

(16) पादप समुदाय का विकास ..... कहलाता है।
(अ) प्रतिक्रिया (ब) अनुक्रमण
(स) आक्रमण (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (ब) अनुक्रमण।

(17) वायु में ऑक्सीजन की मात्रा जल की अपेक्षा अधिक होती है–
(अ) 5 गुना (ब) 10 गुना
(स) 15 गुना (द) 25 गुना।

उत्तर– (द) 25 गुना।

(18) पौधों के लिये अच्छी मानी जाती है–
(अ) वायु की दिखायी देने वाली वाष्प (ब) वायु की न दिखायी देने वाली वाष्प
(स) दोनों तरह की वाष्प (द) कोई नहीं।

उत्तर– (ब) वायु की न दिखायी देने वाली वाष्प।

(19) सौर ऊर्जा को सर्वाधिक पकड़ा जा सकता है–
(अ) उगने वाली घासों द्वारा
(ब) बड़े–बड़े तालाबों में उत्पन्न शैवालों द्वारा
(स) रोपित किये जाने वाली वृक्षों द्वारा
(द) फसली पौधों के अधिक उगाने पर।

उत्तर– (द) फसली पौधों के अधिक उगाने पर।

(20) पूर्ण खुले सूर्य के प्रकाश में उगने वाले पौधे कहलाते हैं–
(अ) छाया प्रेमी (ब) प्रकाश प्रेमी
(स) शुष्कोद्भिद् (द) समोद्भिद।

उत्तर– (ब) प्रकाश प्रेमी।

(21) तापमान का प्रभाव होता है–
(अ) केवल पौधों पर (ब) केवल जन्तुओं पर
(स) पौधों एवं जन्तुओं पर (द) किसी पर नहीं।
उत्तर– (स) पौधों एवं जन्तुओं पर।

(22) पारिस्थितिक कारक वे कारक होते हैं जो–
(अ) पर्यावरण को प्रभावित करते हैं (ब) पर्यावरण में उपस्थित होते हैं
(स) भूमि में पाये जाते हैं (द) उपर्युक्त में से कोई भी नहीं।
उत्तर– (अ) पर्यावरण को प्रभावित करते हैं।

(23) जैविक कारक किन्हें कहा जाता है?
(अ) पारिस्थितिक तन्त्र के अजैवीय घटक को
(ब) पारिस्थितिक तन्त्र के जैवीय घटक को
(स) पर्यावरण में उपस्थित गैसें को
(द) उपर्युक्त सभी को।
उत्तर– (ब) पारिस्थितिक तन्त्र के जैवीय घटक को।

(24) ऑक्जेलोफाइट्स पौधे वे हैं जो–
(अ) ह्यूमस युक्त चट्टानों पर उगते हैं (ब) ह्यूमस युक्त बालू पर उगते हैं
(स) स्वतन्त्र ह्यूमस एवं अम्लीय मृदा पर उगते हैं
(द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (स) स्वतन्त्र ह्यूमस एवं अम्लीय मृदा पर उगते हैं।

(25) प्रकाश की तीव्रता को किससे नापा जाता है?
(अ) साइक्रोमीटर से (ब) हाइग्रोमीटर से
(स) लक्समीटर से (द) सभी से।
उत्तर– (स) लक्समीटर से।

(26) पर्वतों की दिशा एवं ढलान होते हैं–
(अ) जलवायवीय कारक (ब) मृदीय कारक
(स) जैवीय कारक (द) टोपोग्राफिक कारक।
उत्तर– (द) टोपोग्राफिक कारक।

(27) निम्न में से पौधों के लिये अच्छी मानी जाती है–
(अ) वायु की दिखायी देने वाली वाष्प (ब) वायु की न दिखायी देने वाली वाष्प
(स) दोनों तरह की वाष्प (द) कोई नहीं।
उत्तर– (ब) वायु की न दिखायी देने वाली वाष्प।

(28) 13.24 सेमी. से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में कैसी वनस्पतियाँ पायी जाती हैं?
(अ) मरुस्थल (ब) एल्पाइन
(स) वर्षा वाले ट्रोपीकल वन (द) टेम्परेट वन।
उत्तर– (अ) मरुस्थल।

(29) सौर ऊर्जा को सर्वाधिक किस प्रकार पकड़ा जा सकता है?
(अ) उगने वाली घासों द्वारा
(ब) बड़े–बड़े तालाबों में उत्पन्न शैवालों द्वारा
(स) रोपित किये जाने वाले वृक्षों द्वारा

(द) फसली पौधों के अधिक उगाने पर।
उत्तर– (द) फसली पौधों के अधिक उगाने पर।

(30) पूर्ण खुले सूर्य के प्रकाश में उगने वाले पौधों को ..... पौधे कहा जाता है।
(अ) छाया प्रेमी (ब) प्रकाश प्रेमी
(स) शुष्कोद्भिद (द) समोद्भिद।
उत्तर– (ब) प्रकाश प्रेमी।

(31) निम्न में से सर्वाधिक सौर ऊर्जा कौन ग्रहण करता है?
(अ) पौधे (ब) जन्तु
(स) मानव (द) अपघटक।
उत्तर– (अ) पौधे।

(32) सबसे अधिक भोजन.....से प्राप्त होता है।
(अ) वनों में (ब) वातावरण से
(स) समुद्र से (द) स्थल से।
उत्तर– (अ) वनों से।

(33) .....नवीनीकरणीय स्रोत नहीं है।
(अ) जंगल (ब) कोयला
(स) जल (द) जंगली जीव।
उत्तर– (ब) कोयला।

(34) .....ऊर्जा स्रोत घटता जा रहा है।
(अ) सौर प्रकाश (ब) पवन
(स) जीवाश्मी ईंधन (द) जल।
उत्तर– (स) जीवाश्मी ईंधन।

(35) मृदा अपरदन की रोकथाम.....से की जाती है।
(अ) पशुओं के अधिक चराने से
(ब) वनस्पतियों के विनाश के बचाव द्वारा
(स) वनारोपण (द) पक्षियों की जनसंख्या में वृद्धि से।
उत्तर– (ब) वनस्पतियों के विनाश के बचाव द्वारा।

(36) स्थल.....है।
(अ) क्षय स्रोत (ब) अक्षय स्रोत
(स) क्षय नवीनीकरणीय स्रोत (द) क्षय अनवीनीकरणीय स्रोत।
उत्तर– (द) क्षय अनीवीकरणीय स्रोत।

(37) जल.....है।
(अ) क्षय स्रोत (ब) अक्षय स्रोत
(स) क्षय नवीनीकरणीय स्रोत (द) क्षय अनवीनीकरणीय स्रोत।
उत्तर– (द) क्षय अनीवीकरणीय स्रोत।

(38) .....सर्वाधिक ऊर्जा उत्पादित कर सकता है।
(अ) वन (ब) वायु
(स) जल (द) यूरेनियम।
उत्तर– (द) यूरेनियम।

(39) .....से भूमि क्षरण रोका जा सकता है।
(अ) घास चराई (ब) वनस्पति हटाने
(स) वन लगाने (द) पक्षी संख्या बढ़ाने।
उत्तर– (स) बन लगाने।

(40) भूमि संरक्षण में.....।
(अ) भूमि को हवादार किया जाता है (ब) भूमि क्षरण को होने दिया जाता है
(स) भूमि को हानि से बचाया जाता है
(द) बंजर भूमि को उपजाऊ भूमि में बदला जाता है।
उत्तर– (स) भूमि को हानि से बचाया जाता है।

(41) भारत में कोयले का सबसे बड़ा भण्डार.....में पाया जाता है।
(अ) पश्चिम बंगाल (ब) महाराष्ट्र
(स) झारखण्ड (द) असम।
उत्तर– (स) झारखण्ड।

(42) चूँकि वन.....रोकते हैं अतः ये मानव के लिये आवश्यक हैं।
(अ) भूमि क्षरण को (ब) अत्यधिक वर्षा को
(स) CO_2 की अधिक मात्रा को (द) सभी को।
उत्तर– (अ) भूमि क्षरण को।

(43) संरक्षण कार्य के विरोध में है.....
(अ) वन्य जन्तुओं का नाश (ब) वनस्पति का नाश
(स) पौधों, जन्तुओं तथा मृदा का नाश (द) जंगली जन्तुओं से सुरक्षा।
उत्तर– (ब) प्रकाश की प्राप्ति।

(44) निम्न में से वनों को काटने से कौन सा खतरनाक प्रभाव होगा?
(अ) चारागाह क्षेत्र में वृद्धि (ब) प्रकाश की प्राप्ति
(स) अपतृण नियन्त्रण (द) मृदा अपरदन।
उत्तर– (द) मृदा अपरदन।

इकाई-3

(1) फाइटोट्रॉन एक यन्त्र है जिससे–
(अ) प्रोटॉन निकलते हैं
(ब) पौधे नियन्त्रित वातावरण में उगाये जाते हैं
(स) पौधों में उत्परिवर्तन प्रेरित करते हैं
(द) इलेक्ट्रॉन की बमबारी करते हैं।
उत्तर– (ब) पौधे नियन्त्रित वातावरण में उगाये जाते हैं।

(2) श्वसन मूल (न्यूमेटोफोर) उन पादपों में मिलते हैं,जो उगते हैं–
(अ) सामान्य जलवायु में (ब) शुष्क जलवायु में
(स) जल में
(द) समुद्र के किनारे लवणीय जल के दलदल में।
उत्तर– (द) समुद्र के किनारे लवणीय जल के दलदल में।

(3) जैविक शक्तिता का विरोध कौन करता है?
(अ) भोजन–स्त्रोत की सीमायें (ब) परभक्षिता
(स) अन्य जीवों से प्रतियोगिता (द) उपरोक्त सभी।
उत्तर– (द) उपरोक्त सभी।

(4) यदि एक जनसंख्या में जीवों की संख्या बढ़ती है, तो क्या होता है?
(अ) जैविक शक्तिता बढ़ती है (ब) जैविक शक्तिता कम होती है
(स) वातावरण का प्रतिरोध बढ़ता है (द) उपरोक्तता कुछ नहीं।
उत्तर– (अ) जैविक शक्तिता बढ़ती है।

(5) पादप अनुक्रमण में अन्तिम स्थिरता प्राप्त समुदाय ..... को कहा जाता है।
(अ) क्लाइमैक्स समुदाय (ब) सीरल समुदाय
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।
उत्तर– (अ) क्लाइमैक्स समुदाय।

(6) निर्धारित आवास में रहने वाले पौधे एवं जन्तु क्या बनाते हैं?
(अ) जनसंख्या (ब) समुदाय
(स) पारिस्थितिक तन्त्र (द) प्लॉक्टोन्स।
उत्तर– (ब) समुदाय।

(7) जैव–विविधता का उपयोग किन प्रजनन कार्यों में किया जाता है?
(अ) पारिस्थितिक विविधता (ब) आनुवंशिक विविधता
(स) दोनों (अ) एवं (ब) (द) उपर्युक्त में कोई नहीं।
उत्तर– (ब) आनुवंशिक विविधता।

(8) जैव–विविधता का संरक्षण करने की विधियां कौन–सी है?
(अ) स्व–स्थाने (ब) बहिःस्थाने
(स) (अ) एवं (ब) दोनों (द) पक्षियों का चयनित शिकार।
उत्तर– (स) (अ) एवं (ब) दोनों।

(9) निम्न में से भारत की लुप्तप्राय प्रजाति कौन–सी है?
(अ) लेथारइरस ओडोरेट्स (ब) कोरिएन्ड्रम सटाइवम
(स) नीरियम इन्डीकम (द) सेण्टेलम एलबम।
उत्तर– (द) सेण्टेलम एलबम।

(10) लाल आँकड़ा पुस्तक की प्रथम पुस्तक कब प्रकाशित की गयी?
(अ) 1980 (ब) 1972
(स) 2001 (द) 2010
उत्तर– (ब) 1972

(11) पायोनियर तथा क्लाइमैक्स समुदाय के बीच के माध्यमिक समुदाय कहलाते हैं–
(अ) पादप समुदाय (ब) जीवीय समुदाय
(स) ट्रान्जिटरी समुदाय (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (स) ट्रान्जिटरी समुदाय।

(12) पादप अनुक्रमण में अन्तिम स्थिरता प्राप्त समुदाय कहलाता है–
(अ) क्लाइमैक्स समुदाय (ब) सीरल समुदाय
(स) इकोटोन (द) इकोसीयर।
उत्तर– (अ) क्लाइमैक्स समुदाय।

(13) जलक्रमण (Hydrosere) कहाँ से प्रारम्भ होता है?
(अ) जल से (ब) बालू से
(स) रेगिस्तान से (द) सभी से।
उत्तर– (अ) जल से।

(14) पादप अनुक्रमण में आखिरी स्थायी समुदाय को ..... कहते हैं।
(अ) इकोसियर (ब) चरम समुदाय
(स) क्रमिक समुदाय (द) इकोटोन।
उत्तर– (ब) चरम समुदाय।

(15) पादप अनुक्रमण का अर्थ है–
(अ) खाली स्थान में होने वाला पादपों का विकास
(ब) किसी स्थान पर पाये जाने वाले जीव–जन्तु
(स) किसी स्थान पर उपस्थिति पौधे
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) खाली स्थान में होने वाला पादपों का विकास।

इकाई-IV

(1) निम्न में से जलीय प्रदूषण का प्रमुख कारक क्या है?
(अ) धुआँ (ब) औद्योगिक त्याज्य
(स) साबुन (द) अमोनिया।
उत्तर– (ब) औद्योगिक त्याज्य।

(2) .....के द्वारा वायुमण्डल का प्रदूषण नहीं हो सकता।
(अ) हाइड्रोजन (ब) सल्फर डाइऑक्साइड
(स) कार्बन डाइऑक्साइड (द) कार्बन मोनोऑक्साइड।
उत्तर– (अ) हाइड्रोजन।

(3) .....मुख्य वायु प्रदूषक है।
(अ) CO (ब) CO_2
(स) N_2 (द) S
उत्तर– (अ) CO

(4) सूर्य प्रकाश की पराबैंगनी किरणों की अभिक्रिया से.....का निर्माण होता है।
(अ) CO (ब) CO_2
(स) ओजोन (O_3) (द) फ्लोराइड।
उत्तर– (स) ओजोन (O_3)

(5) डी.डी.टी. है–
(अ) जीवों द्वारा अपघटित न होने वाला प्रदूषक
(ब) जीवों द्वारा विघटित प्रदूषक
(स) प्रतिजैविक (द) उपर्युक्त कुछ नहीं।
उत्तर– (अ) जीवों द्वारा अपघटित न होने वाला प्रदूषक।

(6) पादप में फ्लोराइड की उच्च सान्द्रता के प्रभाव से ऊतकक्षय और क्लोरोसिस कहाँ पाई जाती है?
(अ) पर्णवृन्त में पर्णफलक में नहीं (ब) केवल पर्णफलक की मध्य शिरा में
(स) प्ररोह शीर्ष और पर्ण के किनारों पर(द) केवल प्ररोह शीर्ष पर।
उत्तर– (स) प्ररोह शीर्ष और पर्ण के किनारों पर।

(7) ग्रीनबैक कटथ्रोट ट्राउट एक मछली है जो कोलोराडो के कई जल क्षेत्रों में पाई जाती है। भारी मात्रा में मछली पकड़ने के बाद, यह प्रजाति अब कोलोराडो में केवल कुछ मुट्ठी भर धाराओं के लिए स्थानिक है। निम्नलिखित में से कौन सा कथन उपरोक्त वाक्यों के समान ही कहता है?
(अ) ये ट्राउट कई जलक्षेत्रों के मूल निवासी हैं, लेकिन केवल मुट्ठी भर तक ही सीमित रह गए हैं।
(ब) ये ट्राउट कोलोराडो से आते हैं और यहीं रहते हैं।
(स) अत्यधिक मछली पकड़ने से इन ट्राउट की सीमा में कोई कमी नहीं आती है।
(द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) ये ट्राउट कई जलक्षेत्रों के मूल निवासी हैं, लेकिन केवल मुट्ठी भर तक ही सीमित रह गए हैं।

(8) स्थानिकवाद को अक्सर लुप्तप्राय समझ लिया जाता है। दोनों शब्द किस प्रकार भिन्न हैं?
(अ) वे मूलतः एक ही हैं।
(ब) स्थानिकवाद केवल वितरण का वर्णन करता है, जबकि लुप्तप्राय आबादी के लिए खतरों का वर्णन करता है।
(स) स्थानिक प्रजातियाँ अक्सर लुप्तप्राय हो जाती हैं।
(द) उपरोक्त सभी।
उत्तर– (ब) स्थानिकवाद केवल वितरण का वर्णन करता है, जबकि लुप्तप्राय आबादी के लिए खतरों का वर्णन करता है।

(9) निम्नलिखित में से कौन सी स्थानिक बीमारी नहीं है?
(अ) सामान्य फ्लू
(ब) जीका वायरस, जो सिनेसोटा में पाया जाता है
(स) मलेरिया, अफ्रीका में (द) उपरोक्त सभी।
उत्तर– (स) मलेरिया, अफ्रीका में।

इकाई-5

(1) कान्हा राष्ट्रीय पार्क.....मे स्थित है।
(अ) उत्तर प्रदेश (ब) असम
(स) श्रीनगर (द) मध्यप्रदेश
उत्तर– (द) मध्यप्रदेश।

(2) निम्न में से कौन–सा राष्ट्रीय उद्यान मध्यप्रदेश में स्थित है?
(अ) बांधवगढ़ (ब) सतपुड़ा
(स) पेंच (द) सभी।
उत्तर– (द) सभी।

(3) निम्नलिखित में से कौन–सा पौधा मृतोपजीवी है?
(अ) मोनोट्रोपा (ब) स्ट्राइगा
(स) वेलेनोफोरा (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) मोनोट्रोपा।

(4) मृदा अपरदन की रोकथाम.....से की जाती है।
(अ) पशुओं के अधिक चराने से (ब) वनस्पतियों के विनाश के बचाव द्वारा
(स) वनारोपण (द) पक्षियों की जनसंख्या में वृद्धि से।
उत्तर– (ब) वनस्पतियों के विनाश के बचाव द्वारा।

(5) तापमान का प्रभाव होता है–
(अ) केवल पौधों पर (ब) केवल जन्तुओं पर
(स) पौधों एवं जन्तुओं पर (द) किसी पर नहीं।
उत्तर– (स) पौधों एवं जन्तुओं पर।

(6) जीपीएस में सबसे व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाने वाला एंटीना ..... कहलाता है।
(अ) हॉर्न एंटीना (ब) स्लॉटेड एंटीना
(स) माइक्रोस्ट्रिप एंटीना (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (स) माइक्रोस्ट्रिप एंटीना।

(7) किस प्रकार का रिमोट सेंसिंग विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा के अपने स्रोत का उपयोग करता है?
(अ) सक्रिय रिमोट सेंसिंग
(ब) निष्क्रिय रिमोट सेंसिंग
(स) सक्रिय और निष्क्रिय दोनों रिमोट सेंसिंग
(द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) सक्रिय रिमोट सेंसिंग। □□□